मर्म जीवन का

भाग-1

सम्यक्त्व के आठ अंगों पर गया में प्रदत्त विशिष्ट प्रवचनों का संग्रह

मुनिश्री १०८ प्रमाणसागर

प्रकाशक

निर्ग्रन्थ फाउण्डेशन

भोपाल (मध्यप्रदेश)

मर्म जीवन का : भाग-1

(सम्यक्त्व के आठ अंगों पर गया में प्रदत्त विशिष्ट प्रवचनों का संग्रह)

प्रवचनकार - **मुनिश्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज**

प्रस्तुति : **डी. राकेश जैन एवं सिंघई जयकुमार जैन**

संस्करण : **पंचम, सितम्बर २०१५**

प्रकाशक : **निर्ग्रन्थ फाउण्डेशन, भोपाल**

मूल्य : **६०/- (पेपर बेक), ८५/- हार्ड बाउंड**

मुद्रक : **विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स**

४५, सेक्टर-एफ, इंडस्ट्रियल एरिया, गोविन्दपुरा, भोपाल

फोन : ०७५५-२६०१९५२, ९४२५००५६२४

पुनश्च

मानव को मननशील माना गया है। वह अपने जीवन और जगत् के विषय में मात्र अनुभव ही नहीं करता, अपितु उसकी संरचना के विषय में मनन भी करता/कर सकता है। उसे इस बात का बोध होता है या होना चाहिए कि इस मानव जीवन में आत्मकल्याण की दिशा में मेरा क्या कर्त्तव्य है ? अन्यथा गति-आगति की चंक्रमणता में यह मानव जन्म भी मात्र परिगणन योग्य रह जाता है।

सद्गुरुओं की प्रेरणा से जीवन की सार्थकता के विषय में वह बाध्य हो आद्यन्त विचारने के लिए उत्साहित होता है। उसका यह उत्साह ही उसके कल्याण का पहला कदम होता है, जिसे आध्यात्मिक शास्त्रों में सम्यग्दर्शन के नाम से जाना जाता है।

जीवन की सार्थकता के लिए प्रथम सीढ़ी स्वरूप सम्यक्त्व मान्य है, किन्तु इसे सुरक्षित एवं परिवर्धित रखने के लिए संयम की आवश्यकता होती है। सम्यक्त्वहीन व्यक्ति का समस्त पुरुषार्थ लगभग व्यर्थ की श्रेणी में परिगणित होता है। जबकि सम्यक्त्व के सुवर्ण में संयम की सुगन्ध होने पर जगत् की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को भी प्राप्त किया जा सकता है।

गया की जैन समाज का यह अतिशय पुण्योदय था कि मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का ससंघ आगमन हुआ और उनकी चिन्तनमयी दिव्य-देशना से नगरवासी जैन-जन एवं अन्य सभी लाभान्वित हुए।

मुनि श्री ने यहाँ सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक विषय सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के आधार पर जो प्रेरणाएँ दी हैं, वे निश्चित ही सामाजिक धरोहर बन गयी हैं। इस थाती को सम्हालना आज उनकी जिम्मेदारी बन गयी है। जबकि इससे लाभान्वित होने के लिए सभी सामिल होंगे। श्रोता के अलावा अब पाठक भी इससे लाभान्वित हो, एतदर्थ ही यह प्रस्तुति आपके हाथों में है।

- प्रस्तोता

अनुक्रम

1.	मर्म जीवन का	5
2.	भूत भगायें अपने मन का	23
3.	धनाढ्य हों, धनान्ध नहीं	57
4.	प्रेम के पुष्प खिलायें	82
5.	पुजारी बनो, भिखारी नहीं	105
6.	निज गुण अरु पर अवगुण ढाँके	127
7.	बढ़े हाथ गिरतों की ख़ातिर	153
8.	साधर्मी से सदा प्रीति हो	170
9.	साधर्मी से सदा प्रीति हो	193
10.	मार्गानुसरण ही मार्ग प्रभावना	217

मर्म जीवन का

एक आदमी एक ऐसे कक्ष में प्रविष्ट हो गया जिससे कि बाहर निकलने का केवल एक ही द्वार था। अन्दर सघन अंधेरा था और उस पर वह आदमी अन्धा भी था। बड़ी मुश्किल थी उसके साथ। वह द्वार को टटोलता-टटोलता बाहर आना चाह रहा था, लेकिन एक बड़ा विचित्र संयोग होता है कि जब कभी वह दरवाजे के समीप पहुँचता तभी उसके सिर पर खुजाल आती और उस खुजाल भरी स्थिति में वह उस दरवाजे को क्रॉस कर जाता। वह बार-बार चक्कर काट रहा है लेकिन दरवाजा उसे नहीं मिल रहा है। दीवाल को टटोल रहा है लेकिन द्वार तक पहुँच नहीं पा रहा है।

बन्धुओ! यह कहानी किसी गैर की नहीं हमारी और आपकी कहानी है। हम जिस संसार में रह रहे हैं वह किसी अन्ध कक्ष की तरह है और इस अन्ध कक्ष के द्वार से केवल वही बाहर निकल सकता है जिसकी आँखें खुली हुई हों। जिसकी आँखें बन्द हैं, जिसकी आँखें फूटी हुई हैं, वह कभी भी बाहर नहीं निकल सकता है।

इस संसार रूपी कक्ष से बाहर निकलने का एक ही द्वार है जो धर्म का द्वार है और धर्म के द्वार में प्रवेश केवल उनको मिलता है या धर्म के द्वार तक केवल वे पहुँच पाते हैं जिनके पास श्रद्धा की आँख होती है। वह आँख हमारे भीतर होनी चाहिए। हम आज तक जो भी कर रहे हैं वह एक अन्धे के द्वारा दीवाल को टटोलने जैसा कृत्य है। अन्धा लाख कोशिश करे लेकिन द्वार तक पहुँचने के बाद खाज खुजलाने की आदत उसकी यदि बनी रहेगी तो कभी वह द्वार का लाभ नहीं ले पायेगा। हम सब कई-कई बार द्वार तक तो पहुँचे हैं लेकिन द्वार तक पहुँचने के बाद

भी बाहर निकलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाये क्योंकि आँखें फूटी हुई हैं।

रोशन हुये चिराग तो आँखें नहीं रहीं।
अन्धों को रोशनी का गुमां और भी खराब॥

कभी चिराग नहीं जला, तो कभी आँखें फूटी रहीं। यह हमारे जीवन का सबसे बड़ा दुःसंयोग है और उस दुःसंयोग को दूर करना ही हमारा सबसे प्रबल पुरुषार्थ है। यही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये और यही हमारे जीवन की उपलब्धि बननी चाहिये। जब तक हम अपना ठोस लक्ष्य प्राप्त नहीं करते हैं तब तक यथार्थ उपलब्धि तक पहुँचना भी असंभव है। हम आँखें खोलें। महाराज! आँखें तो हमारे पास हैं। लेकिन मैं उन आँखों की बात नहीं कर रहा हूँ। ये आँखें बाहर की आँखें हैं। ये केवल दृश्य जगत् का दर्शन कराती हैं। सन्त कहते हैं कि इस दृश्य जगत् से बड़ा एक जगत् और है, जो अदृश्य जगत् है। इस जगत् के एक बड़े हिस्से को हम देख रहे हैं लेकिन भीतर के जगत् का एक अंश भी हमारी दृष्टि में नहीं आ पा रहा है। तय मान करके चलना कि बाहरी जगत् भीतरी जगत् के सामने बहुत छोटा-सा है। बाहर के संसार का विस्तार बहुत सीमित है, पर भीतर का संसार असीम है और उस असीम संसार का दर्शन केवल वही कर पाता है जिसके अन्दर श्रद्धा की आँख होती है। वह आँख जो तुम्हें सत्य का दर्शन करा सके, वह आँख जो तुम्हें जीवन के यथार्थ का बोध करा सके। वह दृष्टि जो तुम्हें जीवन को सही ढंग से समझा सके। जीवन के प्रति सही समझ विकसित कर सके। उस दृष्टि की अभिव्यक्ति से ही जीवन के रूपान्तरण का क्रम प्रारम्भ होता है और उसी दृष्टि का नाम हमारे आचार्यों ने सम्यग्दर्शन कहा है।

सम्यग्दर्शन यानि समीचीन दृष्टि, यथार्थ दृष्टि, जो चीज़ जैसी है उसे उस रूप में देखने की कला। आज हम जो देख रहे हैं, वह वैसा नहीं

है जैसा हमें दिख रहा है। क्योंकि हमारी अपनी मान्यताएं, हमारी अपनी धारणाएं हैं। जब तक जीवन के लक्ष्य पर हमारी सही दृष्टि केन्द्रित नहीं होगी, तब तक हम आगे बढ़ेंगे कैसे ? कैसी होनी चाहिए हमारी दृष्टि ? और क्या बनी हुई है हमारी दृष्टि ? हमें इस पर विचार करने की आवश्यकता है। हम केवल बाहर-बाहर ही देखते हैं। हमारी सोच, हमारा चिन्तन और हमारी दृष्टि केवल पदार्थों पर केन्द्रित हो गई है। हमारी मनोवृत्ति भोगवादी बनी हुई है। हम केवल शरीर के स्तर पर जीने के अभ्यासी बन गये हैं। शरीर और जगत् से परे न तो हमें आभास है और न ही अहसास है। यह बड़ी ही उथली दृष्टि की अभिव्यक्ति है और जब तक हम अपनी इस दृष्टि को बदल नहीं लेते तब तक अपने जीवन का उद्धार नहीं कर सकते हैं।

सन्त कहते हैं कि यह बात सही है कि तुम शरीर के आश्रित जी रहे हो, शरीर में जी रहे हो, पर तुम शरीर ही नहीं हो। यह बात सही है कि तुम्हारे चारों ओर पदार्थ घिरे हुए हैं, पर पदार्थों से सुख का निचोड़ नहीं निकल सकता है। तुम अपने जीवन में सुख, शान्ति और प्रसन्नता चाहते हो तो इस बाहर के जगत् से तुम्हें अन्तर्जगत् की ओर आना पड़ेगा। बाहरी जगत् में विमुग्ध व्यक्ति की प्रवृत्ति बहिर्मुखी बनी रहती है और जब तक बहिर्मुखता है तब तक दु:ख है। इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर जब हम अन्तर्मुखी चेतना का विकास करते हैं तब हमारे भीतर एक आध्यात्मिक क्रान्ति घटित होती है और यही आध्यात्मिक क्रान्ति आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त करती है। वह दृष्टि हमारे भीतर घटित होनी चाहिये।

अभी हम केवल बाहर-बाहर देख रहे हैं। हमें सुख मिलता है केवल बाहर की चीज़ों में। हम सम्पत्ति में सुख खोजने की कोशिश करते हैं, हम संसार की और चीज़ों में सुख खोजने की कोशिश करते हैं। पर बन्धुओ, न शरीर में सुख है, न सम्पत्ति में सुख है और न सामग्री में सुख है। सुख

तो भीतर है लेकिन उसका आभास केवल उन्हें होता है जो भीतर झाँक कर देखने की कोशिश करते हैं। जब तक हमारा जीवन संसार की चीज़ों में भ्रान्त बना रहता है, हमारा विश्वास भ्रमपूर्ण बना रहता है और भ्रम पूर्ण विश्वास के साथ यथार्थ की उपलब्धि नहीं की जा सकती है। भ्रम में केवल भटकाव है।

हमने सुना है कि मृग चमकती हुई रेत को जल का भ्रम पालकर भटकता है। उसे लगता है कि आगे सरोवर लहलहा रहा है। मैं थोड़ा चलूँगा तो आगे जाकर मुझे असीम सरोवर का लाभ मिलेगा। वहाँ जाकर मैं अपनी प्यास बुझा लूँगा, लेकिन मृग कभी भी अपनी प्यास बुझा नहीं पाता है। वह केवल भटकता ही रहता है, भटकता ही रहता है और उसे जीवन में केवल भटकन, अतृप्ति, प्यास, आतुरता और पीड़ा के अलावा कुछ भी नहीं मिलता। वह अपने प्राण यूँ ही गँवा देता है।

बात तो सच है कि जहाँ जल है ही नहीं वहाँ जल का भ्रम पालने से प्यास बुझेगी कैसे ? जहाँ जल है ही नहीं, वहाँ तो केवल रिफ्लेक्शन है, चमकती हुई रेत पानी की तरह दिखती है, पर पानी है नहीं। बस, उस पानी के व्यामोह में भटकन है, पीड़ा है, केवल मृग के साथ ही ऐसा नहीं हो रहा है। हमारे तुम्हारे साथ भी हो रहा है। जिस पानी के पीछे हम भाग रहे हैं, हमारे मन में यह धारणा और कल्पना पल रही है कि वहाँ तक पहुँच करके मैं अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा, मेरे जीवन की मूल अभीप्सा शान्त हो जायेगी, पर बन्धुओ, न तो चाह पूरी होती है और न ही जीवन में राहत ही मिलती है।

वस्तुत: जिनसे हमने सुख की चाहत पाल रखी है उनमें सुख है ही नहीं। केवल सुख का एक भ्रम है और यह भ्रममूलक स्थिति जब तक बनी रहेगी तब तक हम जीवन के रूपान्तरण को घटित नहीं कर सकते

हैं। हमारे भीतर जब सही समझ विकसित होती है, सच्ची श्रद्धा विकसित होती है तो सबसे पहले इस भ्रम का निवारण होता है।

बन्धुओ, दो चीज़ें हैं एक भ्रम और एक विश्वास। जहाँ भ्रम है वहाँ विश्वास नहीं है और जहाँ विश्वास है वहाँ पर भ्रम नहीं है। अभी तक हम भ्रान्ति मूलक जीवन जीने के अभ्यासी बने रहे हैं। हमें अभी तक संसार और संसार में सुखोत्पादक चीज़ों के प्रति भ्रमपूर्ण विश्वास बना हुआ है। यह लगा कि जितना धन-पैसा कमायेंगे हमारा जीवन उतना ही सुखी होगा। जितने विषय-भोगों के साधन अपनायेंगे, हमारे जीवन में उतना ही सुख होगा। जितनी अधिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करेंगे उतना अधिक हमें जीवन का सुख मिलेगा। पर थोड़ा विचार करके देखो कि हमने आज तक जीवन में यह सब किया तो क्या सुख मिला ? हमने कितनी अधिक धन-सम्पत्ति नहीं जोड़ी ? जीवन भर धन-पैसा जोड़ लेने वाले को भी अन्त तक चैन कहाँ मिलता है ?

बिलगेट्स आज पैसा कमाकर दुनिया के सबसे अमीर की श्रेणी में तो आ सकता है, पर दुनिया के सबसे सुखी आदमियों में अभी उसका स्थान नहीं है। क्यों नहीं ? वह गर्व के साथ कहता है कि मैं दुनिया का सबसे धनी आदमी हूँ, पर कभी उसके मुख से यह सुनने को मिला कि मैं दुनिया का सबसे सुखी आदमी हूँ ? ध्यान रखना, दुनिया के जितने भी धनी आदमी हैं, वे सुखी लोगों की श्रेणी में अपना स्थान नहीं बना पाते हैं। उनको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। क्योंकि धन-पैसा और सुख ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ सम्पत्ति होगी, वहीं आकुलता होगी, व्यग्रता होगी, चिन्ता और संताप होगा और जहाँ ये सब चीज़ें होगीं वहाँ जीवन में कभी भी सुख आ ही नहीं सकता। उसे दुनिया का सबसे बड़ा धनपति बनने का श्रेय भले ही मिल गया पर वह दुनिया का सबसे सुखी आदमी नहीं है। आज भी उसके अन्दर धन-पैसा और संसार में आगे बने रहने की

ललक है। आज पैसे का उसके पास कोई मूल्य नहीं है पर मुझसे कोई दूसरा नम्बर वन पर न आ जाये, यह भय जरूर है और उसके मन में निरन्तर नम्बर वन बने रहने की चाह है।

सन्त कहते हैं कि तुम्हारे साथ भी ऐसा एक बार नहीं, अनन्त बार हो चुका है। अनन्त जीवन और अनन्त जन्म तुमने इसमें बिता दिये। केवल इसी को एकत्रित करने की होड़ में लगे रहे लेकिन तुम्हारी प्यास आज तक अबुझ है। जैसे अनन्त सरिताओं के प्राप्त हो जाने के बाद भी कभी समुन्दर की प्यास नहीं मिटती। ऐसे ही मनुष्य के पास धन का विपुल साम्राज्य भी आ जाये तो भी उसे तृप्ति नहीं मिलती है। जैसे श्मसान में सैकड़ों चितायें जलने के बाद भी श्मसान अतृप्त रहता है, वैसे ही तृषातुर मनुष्य का चित्त अपार धनराशि पा लेने के बाद भी अतृप्त बना रहता है। वहाँ तृप्ति नहीं है।

यह मेरा भ्रमपूर्ण विश्वास ही है कि मैं ऐसा कर लूँगा तो सुखी हो जाऊँगा। हम सुखी होना चाहते हैं, हर व्यक्ति का लक्ष्य सुखी होने का है पर उसे यह नहीं मालूम कि आखिर सुख है कहाँ ? सुख बसता कहाँ है ? सुख पाया कैसे जाता है ? जिस चीज़ के मूल में भ्रम है, जो भ्रमपूर्ण विश्वास है वह कभी यथार्थ तक हमें पहुँचा नहीं सकता है इसलिये इस बात की हमें ठीक ढंग से समीक्षा करके देखने की ज़रूरत है कि आखिर मेरी मान्यता सही है या गलत है ? मैं सुखी होना तो चाहता हूँ पर किसमें ? जिस मार्ग को मैंने अपनाया है वह मुझे सुखी बनाने में कितना कार्यकारी है।

बीमार आदमी इलाज कराये। अभी कहा गया कि बड़े डॉ० के पास जाकर इलाज करायें। पर यह भी देखें कि जिससे हम इलाज करा रहे हैं उससे हमें लाभ मिल रहा है कि नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि

हम जो उपचार करा रहें हैं वही हमारी बीमारी को बढ़ा रहा हो । ध्यान रखना, कि शरीर की बीमारी के प्रति तो आप रात-दिन सावधान रहते हैं, और यदि दवाई काम नहीं करती है तो आप तुरन्त दवाई बदलते हैं और दवाई बदलने से काम नहीं चलता है तो आप कहते हैं - भैया अब अस्पताल ही बदल दो, यहाँ काम नहीं चलेगा । अथवा बम्बे, दिल्ली चलो और बॉम्बे, दिल्ली में भी काम नहीं चलता है और यदि आपके पास संसाधन हैं तो अमेरिका चलो, वहाँ किसी बड़े डॉ० को दिखायेंगे । वहाँ भी काम नहीं चलता है तो आप कहते हैं - पैथी बदलो, ऐलोपैथी में बहुत ज़्यादा रिएक्शन होता है, आयुर्वेद अच्छा है । किसी वैद्य-हकीम के पास जाकर अपनी नब्ज पकड़ाते हैं । डॉ० के पास जाकर आप अपनी चिकित्सा कराते हो और यदि होम्योपैथी में भी काम न चले तो आप नेचुरोपैथी वाले के पास जाते हैं । कहते हैं कि -

सौ रोगों की एक दवा, मिट्टी पानी और हवा ।

कदाचित् नेचुरोपैथी में भी काम न चले तो ..... ? कहोगे महाराज, क्या कर रहे हो ? मरवाओगे क्या ? मैं मरवाना नहीं चाहता हूँ, पर मैं ऐसा कहना चाहता हूँ कि यदि किसी व्यक्ति के दुर्योग से ऐसा हो जाये कि जहाँ सब पैथी फेल हो जाये, वहाँ सिम्पैथी से काम चलाओ । फिर दुआ माँगो ।

एक बीमारी के निराकरण के लिये इतना लम्बा-चौड़ा प्रयोग । अरे भैया भीतर की बीमारी को भी तो देखो कि वह ठीक हो रही है या नहीं । तुम इलाज तो कर रहे हो पर यह भी तो देखो कि वह इलाज सही है भी कि नहीं । यह तुम्हें देखना पड़ेगा । तुम जिन आधारों को अपने सुख का साधन मानकर चल रहे हो, जिनको अपने सुख का आलम्बन मानकर चल रहे हो वे आखिर तुम्हारे जीवन को कितना सुखी बना रहे हैं ? यह

धारणा अपने जीवन में दृढ़ बनाने की ज़रूरत है । धन-सम्पन्नता हमें खूब मिली, और उसको भी टटोलकर देखा कि इतना धनी बन जाने के बाद मैं कितना सुखी हुआ ।

अपने जीवन की शुरूआत् की ओर देखो कि मैं अपने जीवन में जब अपेक्षाकृत कम धनी था और इस विश्वास से आगे बढ़ा था कि यदि धन-पैसा कमाऊँगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा, उस समय मेरा धनाभाव ही मेरे दुःख का कारण था, इसलिये मैंने धन-पैसा कमाना शुरू किया । आप अपना थर्मामीटर अपने पास रखना, दूसरों की ओर झाँककर नहीं देखना । देखो कि जब मैंने धन कमाना शुरू किया था तब मेरे जीवन में कितने दुःख थे और आज जब मैं अपेक्षाकृत धनी बन गया तो मेरे जीवन में कितने दुःख हैं ? हिसाब लगा लेना और ईमानदारी से समीक्षा कर लेना कि जिस समय धन कम था तो उस समय दुःख और दुःख के कारण कम थे, और जब धन ज़्यादा बढ़ गया है तो दुःख और दुःख के कारण बढ़ गये हैं और यही तुम्हारे विश्वास को तोड़ने का आधार बनेगा । धन-पैसा के पीछे मैं ज़िन्दगी भर पागल होता रहा लेकिन यह सुख का आधार नहीं है, इस विश्वास को अपने अन्तर्मन में जगाओ, यही सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन की केवल परिभाषा रटना नहीं है, बल्कि उसे जीवन व्यवहार में उतारने की ज़रूरत है । उसे उतारिये । सबसे पहले श्रद्धा में जमा लो कि पैसा मेरे सुख का आधार नहीं है, मेरे कहने से नहीं बल्कि पूर्ण परीक्षण करके । दुनिया में बहुत ज़्यादा धनपति हैं जो तरह-तरह के हथकंडे अपना करके पैसा कमाते हैं, लेकिन उनकी अन्तरात्मा से पूछो कि पाप में प्रवृत्त होकर पैसा कमाने से उनके अन्दर का सुख-चैन खत्म हो जाता है या नहीं ? वस्तुतः जैसे रेते को निचोड़ने से तेल नहीं निकलता है, वैसे ही संसार की चीज़ों से सुख का रस कभी निकल ही नहीं सकता है । चाहे आप कितना भी प्रयत्न और पुरुषार्थ क्यों न कर लो । यह विश्वास अपने

अन्दर प्रगाढ़ रूप से जमा लीजिये कि ये चीज़ें हमें सुख नहीं दे सकेंगी।

महाराज, पैसे के बिना भी तो काम नहीं चलता है ? हाँ, पैसा काम देता है संसार को चलाने में। सुविधा मिल सकती है, पर सुख नहीं। सुविधा अलग चीज़ है और सुख अलग। सुविधायें जुटाई जाती हैं, पर सुख पैदा किया जाता है। सुविधा बाहर के साधनों पर अवलम्बित होती है पर सुख भीतर से प्रकट होता है। सुख भीतर की साधना पर निर्भर करता है।

एक धनी आदमी के पास बहुत सुविधा है। उसके पास खाने-पीने के खूब साधन हैं, घूमने-फिरने के लिये गाड़ियाँ हैं। बंगला है, प्रतिष्ठा है, नौकर-चाकर हैं, सब कुछ है। पर यह कोई जरूरी नहीं कि जिस मनुष्य के पास जितनी अधिक सुविधा है वह उतना ही सुखी होगा। बल्कि मैं तो यह देखता हूँ कि ज़्यादा सुविधा सम्पन्न लोग ज़्यादा दुःखी होते हैं। मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जो बड़े-बड़े सेठ-साहूकार हैं, नौकर-चाकर रखते हैं, लेकिन बिस्तर पर करवटें बदलने को मजबूर हैं, क्योंकि ब्लडप्रेशर की शिकायत है। हार्ट की प्रोब्लम है, साथ में डायबिटीज है। क्या करें ? भाई साहब को अब कोई अनुकूलता ही नहीं है। डॉ० ने सब कुछ खाना छुड़वा दिया है। कुछ खा भी नहीं सकते, और यदि खा सकते हैं तो केवल मूँग की दाल और रूखे फुल्के। इसके अलावा कुछ नहीं खा सकते। अब मात्र गम खा सकते हैं।

सुविधायें सब तरफ हैं, पर सुख नहीं। नौकर-चाकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। कुत्ते कार में घूम रहे हैं और सेठ जी बिस्तर पर करवटें बदल रहे हैं। बहुत सुखी हैं ? हैं न ? यह प्रतिमान है। इस पर विचार करो और इस धारणा को पक्की बनाओ कि ये सुविधायें ऊपर की चीज़ें हैं और कई-कई बार तो जिसे हम अपने जीवन की सुविधा मानते हैं वह दुविधा बन जाती है।

जबसे मोबाईल आपकी जेब में आया है लगता है बड़ी सुविधा हो गयी। लेकिन वह ठीक से खाने भी नहीं देता। परिवार में पत्नी से बच्चों से बात भी नहीं करने देता। रात में सोने भी नहीं देता। सुविधा सुविधा है पर वह कब दुविधा बन जाय कहा नहीं जा सकता !

बाहर से जो कुछ भी जोड़ा जाता है वह बाहर की चीज़ है। पर सुख तो हमारी मानसिकता पर निर्भर करता है। मानसिकता हमारी अध्यात्ममूलक दृष्टि पर निर्भर करती है। यदि हमारी दृष्टि आध्यात्मिक है तो हमारी मनोवृत्ति बदलेगी और मनोवृत्ति यदि बदल जाती है तो हमसे ज़्यादा संसार में सुखी कोई हो ही नहीं सकता है।

पैसे की एक सीमा है। आदमी चाहे जितना सोना-चाँदी जोड़ ले लेकिन यह तय मानकर चलना कि वह सोने-चाँदी की रोटियाँ नहीं खा सकेगा। रोटियाँ तो अनाज की ही खाई जाती हैं। पेट सोने-चाँदी से नहीं भर सकता है। पेट तो केवल अनाज से ही भरेगा। सोना-चाँदी तो केवल पेटियों में भरने के लिए होता है और पेटियाँ कितनी भी भर लो उससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। पेट का तो एक पैमाना है, पर पेटियों की कोई पैमाइश नहीं है। आज सारे लोग उसी के चक्कर में लगे हुये हैं, इसलिये उनके जीवन में अतृप्ति है, पीड़ा है। पैसे की एक सीमा है। पैसा हमें क्या दे सकता है और क्या नहीं दे सकता, यह हमें सोचना है ?

पैसे के बल पर रोटी तो खरीदी जा सकती है पर भूख नहीं। पैसे से औषधि खरीदी जा सकती है पर आरोग्य नहीं। पैसे से बिस्तर खरीदा जा सकता है पर आराम नहीं। पैसे से चश्मा खरीदा जा सकता है पर दृष्टि नहीं। पैसे से सुविधा जुटाई जा सकती है पर सुख नहीं। यही पैसे की सीमा है। इस बात को अपनी श्रद्धा में जमा लो। फिर पागलपन नहीं होगा।

सन्त कहते हैं कि पैसा कमाना है तो कमाओ पर पैसे के पीछे पागल मत होओ। ठीक है कि जंजाल में फँसे हो तो जितना आवश्यक है उतना कर लो पर याद रखो कि मूल तो भीतर है। फिर पैसे के बाद दूसरे नम्बर पर आता है पदार्थ और पदार्थजन्य भोग। चारों तरफ विषय-भोगों की जो सामग्री है उनसे मुझे सुख मिलता है। विचार करो, तमाम ज़िन्दगी तो व्यतीत हो गई पर आखिर तुम्हें इससे सुख मिला ? हर व्यक्ति एक ही तो काम कर रहा है, केवल आहार, निद्रा, मैथुन और भय के चक्कर में लगा हुआ है। जन्म से लेकर अभी तक हमने केवल विषयों का उपभोग किया पर मिला क्या ? हम सोचते हैं कि अभी नहीं तो अगली बार करेंगे तब शान्ति मिलेगी। अभी यह चीज़ नहीं पाई, यदि यह पा लेगें तो शान्ति मिलेगी। हम हर बार वही कार्य करते जाते हैं, पर हर बार का अनुभव बताता है कि इससे कोई शान्ति नहीं मिलती है, लेकिन फिर भी मन में एक आशा जगती है कि चलो एक बार और कर लो। नतीज़ा यह निकलता है कि अनुभव हार जाता है आशा जीत जाती है और यही आशा हमें संसार की चकाचौंध में लगा देती है लेकिन मिलता कुछ भी नहीं है।

एक दिन गुरु जी ने छात्रों को कुत्ता पर लेख लिखकर लाने को कहा। सभी छात्र कुत्ते पर लेख लिखकर ले गये। एक छात्र का लेख पढ़कर गुरु जी को बड़ा अचम्भा हुआ। गुरु जी ने कहा कि लेख तो तुमने बहुत सुन्दर लिखा है, लेकिन ठीक एक वर्ष पहले ऐसा ही लेख तुम्हारा बड़ा भाई लिखकर लाया था। उसमें और इसमें एक मात्रा का भी अन्तर नहीं है। मामला क्या है ? उस बच्चे ने कहा - गुरु जी, कुत्ता भी तो वही है। तब लेख दूसरा कहाँ से आयेगा ?

बन्धुओ, हकीकत यही है कि अब तक तुम्हारे जीवन में जो कुछ भी हुआ है सब ही पुनरावृत्ति है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन रूपी कुत्ते

पर लेख लिखते आये हो, पर मिला कुछ भी नहीं है। क्या नहीं किया अनन्त भव में ? आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ समयसार

तुम्हारे द्वारा काम, भोग और बन्ध की कथायें जनम-जनम से सुनी गई हैं। जनम-जनम में परिचय में आयी हैं, जनम-जनम में तुमने उनका उपभोग किया है। अगर करना ही चाहते हो तो उसको करो जो आज तक तुम्हारे लिए अपरिचित रहा है। परिचय पाना चाहते हो तो उसका परिचय पाओ जिसके पाने के बाद किसी के परिचय की कोई ज़रूरत न हो। अनुभव करना चाहते हो तो उसका अनुभव करो जिसके बाद किसी अनुभव की आवश्यकता न हो। यदि दर्शन करना चाहते हो तो उसका दर्शन करो जिसके बाद कोई दृश्य शेष न रहे। यदि पाना चाहते हो तो उसे पाओ जिसे पाने के बाद फिर किसी को पाने की चाहत न रहे। वह तुम्हारे भीतर है लेकिन उसकी तरफ तुम्हारी दृष्टि तब पड़ेगी जब संसार के भ्रमपूर्ण विश्वास को तोड़ोगे। जिनका विश्वास पदार्थ पर जमा हुआ है वे कभी परमार्थ के उपासक नहीं हो सकते हैं।

हम बात आत्मा के कल्याण की करते हैं, परन्तु आत्मा पर कितना विश्वास है ? चीज़ों पर विश्वास है, व्यक्तियों पर विश्वास है। अभी तक अपने और अपने प्रभु पर विश्वास कहाँ जम पाया है ? स्वयं पर विश्वास होना और अपने प्रभु पर विश्वास होना यही सम्यग्दर्शन की बुनियाद है। जिस मनुष्य के अन्तर्मन में यह विश्वास जाग जाता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। विचार करो कि जब तुमने सुख चाहा है तो इन्हीं चीज़ों में चाहा है। विषय-भोगों और धन-संपत्ति में चाहा है, पद-प्रतिष्ठा में चाहा है। अरे ! मैंने न जाने जीवन में कितने बड़े-बड़े ओहदे प्राप्त कर लिये, लेकिन उन ओहदों से मेरे मन की इच्छायें कभी भी पूरी नहीं हुई हैं। कई-कई बार ऐसा हो गया पर तब भी आदमी को चैन नहीं पड़ती है।

एक बार ऐसा हुआ कि एक युवक की शादी तय हुई तो उसने अपने मित्र को पत्र लिखा और कहा कि अमुख तारीख को अमुक स्थान पर मेरी शादी है। आपको आना है। मित्र ने पत्र पढ़ा, कुछ व्यस्तता थी तो उसने पत्र में रखकर एक हजार रुपया भेज दिया और कहा कि मेरी तरफ से यह भेंट स्वीकार कर लो। छह महिने बीते तो फिर से उस युवक का कार्ड आ गया कि मेरी शादी है आपको आना है। उसने पूछा - भाई क्या बात है ? मित्र ने कहा - पहली शादी मैंने रिजेक्ट कर दी है। उसने पूछा क्यों ? वह बोला - हाँ, छह महिने में तलाक दिया है। यद्यपि देखने में तो बड़ी मनपसंद थी, पर बड़ी हुकुम चलाने वाली थी। मैंने सोचा था घर पर आयेगी, खाना-पीना बनायेगी, गृहकार्य में सहयोग करेगी सो वह तो करना दूर की बात और रात-दिन हुकुम चलाये। मैंने कहा - मुझे उस लड़की से शादी नहीं करना है अब मुझे मेरे अनुकूल लड़की मिल गई है। सुन्दर भी है और काम करने को भी राजी है, इसलिये मैं शादी करूँगा। ठीक शादी हो गई। फिर छह महिने बाद फिर से एक तार आ गया। यह सूचना लेकर कि अब मेरी तीसरी शादी है। क्यों ? बोले - भैया मैंने उससे शादी तो की लेकिन क्या बताऊँ ? वह काम भी करती है और सुन्दर भी है, पर स्वभाव मेल नहीं खाता है रात-दिन चिल्लाती रहती है। रोटी भी खिलाती है तो ताने के साथ खिलाती है उसके साथ तो जीना मुश्किल है। अब मैंने उसको अलग कर दिया, अब मैं उससे शादी नहीं करूँगा। उसके मित्र ने सोचा कि हद हो गई। इसने तो इतनी जल्दी-जल्दी कपड़ों की तरह पत्नी को बदलना प्रारम्भ कर दिया। ज़माना ही ऐसा आ गया है। जब उसकी तीसरी शादी की बात आई तो उसने सौ रूपया और भेज दिया भेंट स्वरूप। अब जब तीसरी शादी हो गई और छह महिना फिर बीता तो फिर से पत्र आ गया उसका, कि मेरी चौथी शादी हो रही है, आपको आना है। तो मित्र ने सोचा कि हद हो गई शादियों

का भी कहीं कोई अन्त है ? शादी पर शादी किये जा रहा है, मामला क्या है ? पूछा - अब क्या है ? वह बोला - मैंने तीसरी शादी की, सब कुछ अच्छा था पर उसकी सेवा मुझे करनी पड़ती है, क्योंकि वह अक्सर बीमार बनी रहती है। इसलिये उसको भी मैंने छोड़ दिया है। अब चौथी करने जा रहा हूँ और मुझे उम्मीद है कि यह मेरे अनुकूल होगी। इस बार मित्र ने चौथी शादी के लिये पैसा डाक से नहीं भेजा अपने बेटे को एक बन्द लिफाफा देकर भिजवा दिया और कहा कि इसको अकेले में देना और कहना कि पढ़े। उसने उसको खोला उसमें एक वाक्य लिखा था।

अनुभव पर आशा की विजय।

उस मूर्खशिरोमणि को यह पता नहीं लगा कि जब चार से आनन्द नहीं मिला तो पाँचवीं से कैसे मिल जायेगा ? अरे ! मेरे नसीब में पत्नी का सुख होता तो पहले ही नहीं मिल जाता। बड़ा पराक्रमी और पुरुषार्थी होगा जो चार-चार को झेला। लोगों को तो एक को झेलने में पसीना आ जाता है। यह तो एक काल्पनिक उदाहरण है। लोगों के जीवन में ऐसी बातें रोज़ ही घटित होती हैं, जिन पर वह विचार नहीं कर पाता है।

बन्धुओ, जब तक हमारा विश्वास नहीं बदलता है तब तक हमारे जीवन में रूपान्तरण नहीं हो सकता है, इसलिये अपने अन्दर यह दृढ़ विश्वास बनाईये। संसार की चीज़ों से अपना भ्रम तोड़िये। भ्रान्तियों में जो मैंने सुख माना है वास्तव में इनमें सुख है ही नहीं। सुख मेरे भीतर है, बाहर नहीं। सुख मुझे जब भी मिलेगा, मुझसे ही मिलेगा। बाहर की चीज़ों से यदि मुझे सुख मिलता है तो वह मेरी मानसिकता की अनुकूलता रहने तक ही मिलता है। जब तक मेरी मानसिकता अनुकूल है बाहर की चीज़ें मुझे अनुकूल लगती हैं। पत्नी यदि अनुकूल है तो प्रिय लगती है, लेकिन कब तक ? जब तक पत्नी के प्रति कोई संदेह नहीं तब तक। जिस दिन कहीं से भ्रम हो जाये या पत्नी किसी से फोन पर बात कर रही हो। संयोग से

अपने भाई से ही बात कर रही हो और पतिदेव उनकी वार्ता को आधी अधूरी सुनें और मन में कोई शंका हो जाय तो अब तक प्राणप्रिय लगने वाली पत्नी भी कुल्टा दिखने लगेगी। यदि किसी के प्रति संदेह हो जाये या धारणा पलट जाये तो जिसे हम अच्छा मानते हैं, उसे ही हम बुरा मानना शुरू कर देते हैं।

एक बार ऐसा हुआ, पति सफाई में लगा हुआ था। सफाई करते-करते पति के हाथ में एक पुस्तक लगी। वह पुस्तक तीस वर्ष पहले जब उनकी शादी हुई थी तो पत्नी अपने मायके से लेकर आई थी। उसने पुस्तक को पल्टा तो उसमें एक पत्र मिला। तीस वर्ष पहले पत्नी ने अपने पुराने प्रेमी को जो पत्र लिखा था यह वही पत्र था। पत्र पढ़ते ही पति को एकदम गुस्सा आ गया। यह बात है, असलियत यह है। मैं तो अभी तक भ्रम में था। मैं तो कुछ और ही समझता था। मामला अब साफ हो गया, अब देखता हूँ।

अब क्या हो गया ? पत्नी वही है, पत्नी का व्यवहार वही है, लेकिन अब पत्नी में वह रस नहीं, जो कुछ देर पहले तक था। अब वह पत्नी नम्बर एक की दुश्मन हो गई। फूटी आँख सुहा नहीं रही है, क्योंकि पत्नी का प्रेम मुझसे नहीं किसी और से है। हालॉकि है कुछ नहीं यह केवल एक भ्रम है।

मैं आपसे कहना चाह रहा था कि संसार की चीज़ें हमें सुखी तभी तक करती है, जब तक हमारी मानसिकता अनुकूल होती है। मानसिकता चीज़ों पर नहीं हमारे चिन्तन पर निर्भर करती है, इसलिये चिन्तन की धारा को मोड़िये और हमेशा प्रसन्न रहने की कला को सीख लीजिये। सम्यग्दर्शन का मतलब उस सत्यदृष्टि को जागृत करना है जो हमें हर स्थिति में प्रसन्न बनाये रखने की कला सिखाती है। जो संसार के विषयों की कीच में भी कमल की तरह निर्लिप्त रहने की कला सिखाये, पाप में रहने के बाद भी

पाप से अलिप्त रहने की कला सिखाये, उसी का नाम है सम्यग्दर्शन। वह दृष्टि हमारे अन्दर भी विकसित होनी चाहिये।

मैं रूपमय नहीं हूँ, स्वरूपमय हूँ, उसको देखें। मेरा स्वरूप कुछ भिन्न है, इसको पहचानो। हमारी दृष्टि बाहरी रूप पर रही है, जब वह स्वरूप पर केन्द्रित होती है तभी जीवन की दिशा और दशा बदलती है। दृष्टि बदलेगी तो सृष्टि अपने आप परिवर्तित हो जायेगी। यह विश्वास जब तक हमारा नहीं बदलेगा तब तक हमारा जीवन निहाल नहीं हो सकेगा।

हमने शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति और शरीर के विनाश को अपना विनाश मान रखा है। शरीर और जगत से परे हमारी दृष्टि ही नहीं रही। हमने शरीर जगत को ही अपना सर्वस्व माना है। पर बन्धुओ, शरीर में हम हैं जरूर, पर हम शरीर नहीं हैं, यह विश्वस जगाइये। मैं रूपवान दिखता जरूर हूँ पर मेरा स्वरूप अरूपी है। यह विश्वास हमें अपने अन्दर जाग्रत करना होगा। यह हमारा अपना विश्वास है। इस तरफ जब हमारी दृष्टि जागेगी तो निश्चित रूप से हम अपने जीवन में कामयाबी हासिल कर लेंगें।

ऐसी सत्यशोधक दृष्टि जब मनुष्य के अन्दर विकसित हो जाती है तभी वह सम्यग्दृष्टि होता है। जो शरीर और आत्मा के भेद को जान लेता है, जो सार और असार को जान लेता है, जो हेय और उपादेय को जान लेता है, जिसके प्रकट हो जाने के बाद कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान हो जाता है, वह दृष्टि हमारे अन्दर विकसित हो और ऐसी दृष्टि जब मनुष्य के अन्दर विकसित हो जाती है उसके जीवन का रंग और ढंग परिवर्तित हो जाता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते ही मनुष्य के अन्दर कुछ खास गुण विकसित होने लगते हैं और वे गुण मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं।

आज संक्षेप में उसकी भूमिका बता रहा हूँ और आने वाले दिनों में एक-एक गुण के स्वरूप की चर्चा आपसे करूँगा। सम्यग्दर्शन के आठ अंग शास्त्रों में कहे गये हैं। नि:शंकित अंग, नि:कांक्षित अंग, निर्विचिकित्साअंग, अमूढदृष्टि अंग, उपगूहन अंग स्थितीकरण अंग, वात्सल्य अंग और प्रभावना अंग। मैं इनकी चर्चा क्रम से करूँगा कि इनकी स्थापना हमारे जीवन में कैसी हो ?

सबसे पहले हमारे जीवन में शंका न हो श्रद्धा जमें। विषयों की चाह घटे। फिर हमारे मन से घृणा खत्म हो और गुणों के प्रति अनुराग बढ़े, इसके उपरान्त हमारी जो आस्था है वह अविचल हो, सांसारिक प्रलोभन भरी बातों से हमारा चित्त विचलित न हो, और हम दूसरों के अवगुणों को ढाँकें और गुणों को बतायें। यदि कोई मार्ग से च्युत होता दिखाई पड़ता है तो उसे मार्ग में स्थिर करने की कोशिश करें और धर्मात्माओं के प्रति हमारे दिल में प्रेम हो और धर्म की प्रभावना निरन्तर करें।

बन्धुओ, ये आठ अंग हैं। इनकी चर्चा तो मैं आपसे आगे करूँगा पर एक-डेढ मिनट में अपने शरीर के आठ अंगों से जोड़कर आप सबको इन आठ अंगों का बोध कराना चाहता हूँ। यदि शरीर के आठ अंगों की गतिविधियों को आप ध्यान में रख करके चलेगें तो उनमें सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की झलक दिखाई पड़ेगी और एक बड़ी प्रबल प्रेरणा भी मिलेगी। शरीर में आठ अंग हैं - दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, छाती, पीठ और मस्तिष्क। देखिये जब हम सड़क पार करने के लिये बढ़ते हैं तो दाहिने पैर को बिना किसी खटके के आगे बढ़ा देते हैं यानी मार्ग को देख लेना और बिना किसी शंका के बढ़ा देना नि:शंकित अंग है। जब हमारा दाया पैर बढ़ता है तो बाया पैर बिना किसी अपेक्षा के उसका अनुकरण कर लेता है। यानी विषयों के प्रति उपेक्षा का भाव हो जाना ही नि:कांक्षित अंग है। जब हम अपने बायें हाथ से शरीर की अपवित्रता को दूर करते

हैं उस समय हमें ग्लानि नहीं होती है। यही भाव होना निर्विचिकित्सा अंग है। जब हम भरपूर आत्मविश्वास से भरकर कोई बात करते हैं, तो दाहिना हाथ ठोककर कहते हैं कि यह तो ऐसा ही है। इससे यह निश्चित होता है कि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यह तो ऐसा ही है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता, ऐसी अविचल श्रद्धा वाला बनना सम्यग्दर्शन का अमूढ़दृष्टि अंग है। साधर्मी बन्धुओं द्वारा जाने-अनजाने में हो रही किसी चूक को सार्वजनिक रूप से प्रकट न होने देना और उसके गुणों को सर्वत्र प्रतिष्ठापित करना उपगूहन अंग कहलाता है। गुह्य/गुप्त अंग के रूप में सदा आवरित रहने वाले नितम्ब से उपगूहन की और पीठ से स्थितीकरण अंग की शिक्षा मिलती है। जिस तरह से रीढ शरीर को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है उसी तरह से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति धर्ममार्ग में विशृंखलित/विचलित होते व्यक्तियों को पुन: धार्मिक स्थिरता प्रदान करता है। हृदय वात्सल्य का प्रतीक है। साधर्मी से गौ-वत्स जैसी वत्सलता रखते हुये जीव मात्र के प्रति करुणा का भाव रखना वात्सल्य अंग है। उन्नत ललाट व्यक्ति के गुणों की प्रभावना जन-जन तक करने में जिस तरह समर्थ है उसी तरह से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपने सद्-आचरण से धर्म की प्रभावना करता है।

संक्षेप में कहें तो हमारे शरीर के ये आठ अंग अपने-अपने कार्यों से सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का परिचय करा रहे हैं। कल से हम क्रमश: इन अंगों के बारे में जानने-समझने और अपने जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे। इन अंगों से विभूषित सम्यग्दर्शन ही आपके जीवन का आभूषण बने, इसी भावना के साथ हम आज अपनी वाणी को विराम देते हैं।

गया १०-०३-०७

भूत भगायें अपने मन का

मोक्ष महल की परथम सीढ़ी

सम्यग्दर्शन वह आँख है जो हमें अन्तर्जगत् का दर्शन कराती है। जो हमें हमारे स्वरूप का बोध कराती है या जो स्वयं से स्वयं की पहचान कराती है। यह एक ऐसी दृष्टि है जिसकी अभिव्यक्ति के बाद साधारण मनुष्य में भी असाधारण क्षमताएँ प्रकट हो जाती हैं। सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति होते ही मनुष्य के जीवन में कुछ विलक्षणताएँ प्रकट होती हैं और यह विलक्षणता मनुष्य के जीवन में एक नया वैशिष्टच प्रकट करती है। जीव के जीने का रंग और ढंग, सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। वह भले ही साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेता है लेकिन उसका जीवन बिल्कुल असाधारण हो जाता है। वह सबके बीच रहते हुये भी सबसे पृथक् पहचान बनाने में समर्थ हो जाता है। वह दृष्टि उसके भीतर विकसित हो जाती है और यही विलक्षणतायें सम्यग्दृष्टि के अंग के रूप में गिनी जाती हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में से आज मैं आपसे प्रथम नि:शंकित अंग की चर्चा करने जा रहा हूँ।

सम्यक् श्रद्धा धारि

नि:शंकित अर्थात् शंका का अभाव। शंका दो अर्थों में प्रयुक्त होती है - शंका का एक अर्थ है संदेह और दूसरा अर्थ है भय। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव तत्त्व का सच्चा श्रद्धानी बन जाने के बाद उसके मन में किसी भी प्रकार का संदेह शेष नहीं बचता। किसी भी प्रकार का भय उसके मन में व्याप्त नहीं होता। वह भय और संदेह से मुक्त जीवन जीता है। वस्तुत: वह परम विश्वास का धनी होता है। जहाँ विश्वास होता है, वहाँ संदेह नहीं होता। और जहाँ संदेह होता है, वहाँ विश्वास नहीं होता। दोनों चीजें एक साथ पनप नहीं सकती हैं। घर-परिवार में आप देखते हैं कि जिस व्यक्ति के प्रति आपका

विश्वास होता है उसके प्रति किंचित् भी संदेह नहीं करते हैं। आप बेफ्रिक होकर अपने घर के कैश की चाबी उसे सौंप देते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति तनिक भी संदेह होता है वह आदमी कितना भी गुणी क्यों न हो, उसके प्रति विश्वास नहीं कर पाते हैं। दोनों परस्पर भिन्न या विरोधी चीज़ें हैं। जहाँ विश्वास है वहाँ संदेह नहीं, जहाँ संदेह है वहाँ विश्वास नहीं। धर्म की शुरूआत श्रद्धा से होती है। श्रद्धा में संदेह का कोई स्थान ही नहीं। शंका के होते श्रद्धा उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

ध्यान रखना बन्धुओ, शंका की धरती पर कभी श्रद्धा के बीज अंकुरित नहीं हो सकते हैं। जहाँ शंका होगी वहाँ श्रद्धा प्रस्फुटित नहीं होगी। इसलिये जहाँ श्रद्धा है वहाँ विश्वास है, वहाँ समर्पण है, वहाँ शंका का अभाव है। और जहाँ शंका है, वहाँ श्रद्धा का अभाव है। दोनों कभी साथ-साथ चल ही नहीं सकते हैं। यह सम्यग्दृष्टि की पहली विशेषता के अन्तर्गत कहा गया है कि वह नि:शंक होता है। उसके मन में किसी भी प्रकार का संदेहमूलक भाव नहीं होता है। उसको शंका नहीं होती है। यानी न तो संदेह होता है और न भय। मैं दोनों की बातें आपसे करूँगा। सबसे पहले चर्चा श्रद्धा की कर लूँ, फिर भयमुक्त स्थिति के विषय में चर्चा करूँगा।

टूटे नहीं विश्वास की डोर

एक धर्मात्मा व्यक्ति जो जीवन के लिये नई दिशा तय करता है उसके जीवन में श्रद्धा क्रियात्मक होती है। वह किस तरह से अपनी भयजन्य दुर्बलताओं को दूर करने में समर्थ होता है, और अपने जीवन को आगे बढ़ाता है। दोनों बातें हमारे जीवन में ध्यान देने योग्य हैं। समन्तभद्र महाराज ने अपने शब्दों में सम्यग्दृष्टि के नि:शंकितगुण की व्याख्या करते हुए कहा है कि -

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन् न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥

यह ऐसा ही है, यही है, इसके अलावा तत्त्व किसी प्रकार का नहीं है। इस प्रकार की अविचल आस्था, इस प्रकार की प्रगाढ़ श्रद्धा का नाम

नि:शंकितपन है। श्रद्धा हो पक्की, बिल्कुल हिल न सके, ऐसी श्रद्धा जिसे कोई डिगा न सके। एक बार मैंने अपने मार्ग को जान लिया, स्वीकार कर लिया। अब मेरे मन में किंचित् भी संदेह की कोई गुंजायश नहीं है। यही मार्ग है, तत्त्व के प्रति, देव के प्रति और धर्म के प्रति। अब कोई कुछ भी कहे, सूरज पूरब की जगह पश्चिम से उदित हो लेकिन मेरी धारणा कभी नहीं बदल सकती। उदाहरण दिया है कि जैसे तलवार के ऊपर पानी चढ़ाया जाता है। वह तलवार तो टूट सकती है, लेकिन पानी नहीं छूटता है। इसी प्रकार प्राण निकल जाये, लेकिन भीतर की श्रद्धा अविचलित रहती है। इस श्रद्धा का ही नाम है नि:शंकित। यहाँ से धर्म की शुरूआत होती है। श्रद्धा जब तक हमारे हृदय में विकसित नहीं होती है, तब तक धर्म की सच्चे अर्थों में शुरूआत भी नहीं होती।

श्रद्धा से दिखते भगवान

बन्धुओ, नि:शंक होना सम्यक्त्व का प्रथम अंग है। तथा श्रद्धा ही सम्यक्त्व का मूल स्वरूप है। जहाँ श्रद्धान है वहीं सम्यक्त्व है। उस श्रद्धान में जिनके प्रति श्रद्धा है, ऐसे श्रद्धेय के प्रति रंचमात्र भी संदेह का भाव नहीं होना ही नि:शंकित अंग है। यही मेरा मार्ग है। इसके अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं है। श्रद्धा ऐसी ही होनी चाहिये। एक अंधा व्यक्ति भगवान् के दर्शन के लिये जा रहा था। मंदिर की ओर बढ़ रहा था। तभी किसी युवक ने उससे पूछा - कहाँ जा रहे हो ? वह बोला - मन्दिर जा रहा हूँ। क्यों जा रहे हो ? भगवान् के दर्शन करने के लिये जा रहा हूँ। अरे तुम्हें दिखता तो है नहीं, मन्दिर जाकर क्या करोगे ? उसने कहा - अरे भैया ! मुझे नहीं दिखता तो क्या हुआ, भगवान् को तो दिखता है। वे ही मुझे देख लेंगे तो मैं निहाल हो जाऊँगा। यह है श्रद्धा की अभिव्यक्ति।

बुद्धि उलझाती है मन को

बन्धुओ, श्रद्धा आन्तरिक होती है। कहते हैं कि श्रद्धा एक प्रकार का भावनात्मक वेग है। इसी वेग के बहाव से हम अपने भीतर के अहम् के

कल्मष को बहा सकते हैं। आज बुद्धिवाद का बहुत तेजी से विकास हो रहा है। आज हर आदमी बौद्धिकता के स्तर पर विचार करता है। और यह भूल जाता है कि शुष्क बुद्धिवाद मनुष्य को कहीं का भी नहीं रहने देता है। जब तक मनुष्य के हृदय में श्रद्धा की हिलोर नहीं उठती तब तक वह अपने भीतर के कल्मष को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता है। बुद्धि तो मनुष्य को भटका सकती है। उस शुष्क बुद्धिवाद से बचें। बुद्धि जीवन में उपयोगी है, लेकिन सिर्फ वही बुद्धि जो किसी श्रद्धा से अनुबन्धित है। बुद्धि अगर भगवान् की श्रद्धा से जुड़ी है तो हमें परमात्मा बनाने में समर्थ हो जाती है, और यदि केवल बुद्धिवाद के अहंकार से अकड़ी हुई है, तो वह हमें संसार में भटका देती है।

जाने कितनी परिभाषाएँ ?

चार शब्द हैं - श्रद्धा, विश्वास, बुद्धि और तर्क। ये जाने-पहचाने शब्द हैं। पर इनके अर्थ को मेरे हिसाब से समझिये। विश्वास कहता है कि मैं रात के अन्धेरे में बेधड़क चला करता हूँ। तो बुद्धि कहती है कि मैं तो दिन के उजाले में भी भटक जाती हूँ। श्रद्धा कहती है कि मैं पाषाण में भगवान् के दर्शन करती हूँ। तर्क कहता है कि मैं भगवान् को भी पाषाण बना देता हूँ। ये स्थितियाँ हैं। वस्तुत: मार्ग श्रद्धा का है। श्रद्धा से ही हमारे धार्मिक जीवन की सही शुरूआत होती है। वहीं से हमारे आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त होता है इसलिये प्रथम भूमिका में श्रद्धा नितान्त ज़रूरी है, देव के प्रति, गुरु के प्रति, धर्म के प्रति और तत्त्व के प्रति।

आज हम श्रद्धा की बात तो करते हैं, लेकिन हमारे अन्दर में श्रद्धा है कहाँ ? हमारी श्रद्धा संसार की चीज़ों के प्रति, सांसारिक सम्बन्धों के प्रति, सांसारिक संयोगों के प्रति है। हम अपने देव, गुरु, धर्म और अपने तत्त्व के प्रति बहुत कम श्रद्धान कर पाते हैं। अपने आपके प्रति भी मन में विश्वास नहीं है। जब कभी भी कोई आपत्ति/विपत्ति आती है तो हम दुनिया की बातों में उलझ जाते हैं। दुनिया की चीज़ों के प्रति भागते हैं। सन्त कहते हैं कि वे सब चीज़ें तुम्हारे लिये उतने काम की नहीं है, जितना की तुम्हारा अपना

स्वरूप है। वह ही तुम्हारे लिये भव-भवान्तर में सहायक बन सकता है और कोई दूसरा नहीं। ऐसा विश्वास अगर तुम्हारे मन में जम जाये तो फिर तुम्हारे उद्धार में किसी भी प्रकार की कोई सोचने जैसी बात नहीं है।

अंजन चोर बना निरंजन

तुम्हारे पास ज़्यादा ज्ञान न हो, कोई बात नहीं। तुम्हारे पास बुद्धि न हो तो कोई बात नहीं। तुम्हारे पास कुछ समझ नहीं है तो कोई बात नहीं है। यदि तुम्हारे भीतर श्रद्धा है तो तुम्हारा तो उद्धार हो ही जायेगा। अंजन चोर इसी श्रद्धान के बल पर निरंजन बन गया था। जिसे णमोकार मंत्र भी नहीं आता था, लेकिन उसने इतना ही कह दिया 'आणं ताणं कछु न जाणं सेठवचन प्रमाणम्' अंजन निरंजन हो गया। जिनदत्त सेठ अपनी बुद्धि के वितर्क में उलझ कर रह गया।

मन उलझे विकल्पों में

बुद्धि नाप-तौल कराती है। बाल की खाल निकालती है। हर चीज़ का पोस्टमार्टम करके रख देती है। बन्धुओ, हर जगह तो विचार-विमर्श आवश्यक हो सकता है, लेकिन धर्म के मार्ग में ज़्यादा विचार-विमर्श करने वाला बीच में ही रह जाता है। अलग-अलग प्रकार के लोग होते हैं, कुछ लोग विमर्श ही करते रहते हैं। एक आदमी ने अपने नौकर से कहा - ये मटर हैं। छोटे मटर और बड़े मटर छाँटकर अलग-अलग रख देना। मैं आधा घण्टा बाद आता हूँ। वह आकर देखता है कि मटर ज्यों के त्यों रखे हैं। उसने पूँछा - क्यों मटर छॉट लिये ? वह बोला - नहीं। पुनः पूछा - क्यों नहीं छॉटे। उसने कहा - आपने यह तो बता दिया कि छोटे को एक जगह और बड़े को दूसरी जगह रखना। मैं इस चक्कर में पड़ गया कि बीच वाले को कहाँ पर रखूं। यह हाल है। मनुष्य की ऐसी स्थिति है। वह ज़्यादातर विमर्श में जब उलझता है तो ऐसे ही उलझ जाता है। फिर वह कहीं का नहीं रहता है। इसलिये कहते हैं कि धर्म के मार्ग में आगे बढ़ना है तो ज़्यादा वितर्क और विमर्श में मत पड़ो। एक बार देख लो, और बेखटक होकर चल पड़ो। ज़्यादा सोचो

मत। विश्वास अगर किसी के प्रति एक बार जम गया तो फिर ज़्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है। मैंने मार्ग को पकड़ने से पहले अच्छे से समझ लिया, अब कुछ ज़्यादा करने की ज़रूरत नहीं है। एक बार परखा और बाद में पलकों पर बिठा लिया।

अहंकार की खड़ी चढ़ाई

अब तो जो कुछ है यही मेरा सब कुछ है। इसके अलावा मेरा कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह आन्तरिक श्रद्धान है जिससे श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है। हमारे अन्दर समर्पण का भाव होता है और यही समर्पण हमारे अन्दर के अहंकार को विघटित कर देता है। बन्धुओ, अहं हमारी श्रद्धा का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। जहाँ अहंकार आड़े आते है, वहाँ श्रद्धा विनष्ट हो जाती है। और जब श्रद्धा प्रकट होती है तो अहंकार नष्ट हो जाता है। अगर अपने भीतर के श्रद्धान को बढ़ाना है तो अहंकार को नष्ट करने की कोशिश करें। अहंकार हमारे आत्मविकास का सबसे अवरोधक तत्त्व है। यह दीवार की तरह हमारे सामने खड़ा हो जाता है। हमारे मार्ग की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। सारी विकास यात्रा को रोक डालता है। उस अहंकार से अपने आपको बचायें, उस अहंकार की दीवार को ढहा दें और श्रद्धा के द्वार से आगे बढ़ें।

बन्धुओ, श्रद्धा ही वह द्वार है जिसके बल पर परमात्मा के प्रासाद तक पहुँचा जा सकता है। अपने भीतर के परमात्मा के दर्शन करना चाहते हो तो केवल श्रद्धा के द्वार से होकर ही संभव है और कोई दूसरा द्वार नहीं है। इसलिये धर्म की शुरूआत श्रद्धा के माध्यम से ही होती है।

कहा जाता है कि श्रद्धा के बिना कुछ भी संभव नहीं है। और श्रद्धालु के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। धर्म के मार्ग की शुरूआत तुम्हारी श्रद्धा से होगी और यदि एक बार तुम्हारे अन्तःकरण में वह श्रद्धा स्थिर हो गई तो तुम्हें कुछ भी सोचने की ज़रूरत नहीं है। सारा मार्ग अपने आप प्रशस्त हो जायेगा और तुम्हारे जीवन के कल्याण की प्रक्रिया अपने आप प्रारम्भ हो जायेगी। उस मार्ग को अपनाने की कोशिश करो। अन्दर से विश्वास हो,

आन्तरिक श्रद्धान हो। कई-कई बार हमारे साथ होता यह है कि हम ऊपर से विश्वास की बात तो करते हैं लेकिन हमारा विश्वास सतही ही होता है। अन्दर अविश्वास छिपा हुआ रहता है। हम कह रहे हैं कि यही हमारे देव हैं, यही हमारे शास्त्र हैं, यही हमारे गुरु हैं, ऐसा शब्दों में तो कहते हैं लेकिन दिल के किसी कोने में अभी संदेह जमा हुआ है। ध्यान रखना, शाब्दिक अभिव्यक्ति सरल है, पर आन्तरिक अनुभूति कठिन है।

श्रद्धा की नदी में अविश्वास की नॉव

श्रद्धा अभिव्यक्ति की चीज़ नहीं, अनुभूति की साधना है। भीतर से अनुभूति घटित होनी चाहिये। अपने भीतर झाँककर देखो कि तुम्हारे मन के किसी कोने में कहीं अविश्वास तो नहीं जमा हुआ पड़ा है। जो विश्वास का आवरण ओढे हुये है। जब तक ऐसा अविश्वास तुम्हारे अन्दर है तो समझ लेना कि सम्यग्दर्शन की कोई मजबूत भूमिका तुम्हारे अन्दर अभिव्यक्त नहीं हुई है। कई बार तो पहुँचे हुये लोग भी अविश्वास के शिकार बने रहते हैं।

एक बार ऐसा हुआ, एक पण्डित जी थे। वे रोज़ प्रवचन किया करते थे। उनको एक ग्वालिन रोज़ दूध लाकर दिया करती थी। यह रोज़ का क्रम था। लड़की दूर गाँव से दूध लाती थी। बरसात का समय आया। रास्ते में एक नदी भी पड़ती थी। नदी में पूर हो जाने के कारण नाव से अना पड़ता था। कई बार नाविक लेट हो आता तो ग्वालिन को आने में देरी हो जाती थी। जब वह ग्वालिन लड़की लेट हो जाती तो पण्डित जी को बड़ा ताव आता था। क्योंकि बिना दूध पिये प्रवचन करने जाँय तो कैसे जाँय ? पण्डित जी रोज़ उसे डाँटते, पर ग्वालिन सरल स्वभावी होने के कारण, रोज़ क्षमा माँग लेती थी और आगे से विलम्ब न होने का आश्वासन देकर चली जाती। एक दिन वह कुछ और ज़्यादा लेट हो गयी। अब तो पण्डित जी इंतज़ार करते-करते प्रवचन करने के लिए चल दिये। जब वह पहुँची तो पण्डित जी प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन करते-करते पण्डित जी ने कहा - भगवान का नाम लेने से संसार सागर से भी पार उतरा जा सकता है। भगवान तो संसार

से पार उतार देते हैं। उस ग्वालिन के मन में पण्डित जी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वह तो पण्डित जी को ही भगवान मानती थी। जैसे ही उसने सुना कि भगवान संसार सागर से पार उतार देगा, तो क्या मुझे नदी पार नहीं करा सकता है ? अब मैं नाविक का इंतज़ार नहीं करूँगी। और अब मैं रोज़ समय पर दूध लाकर दिया करूँगी।

प्रवचन के उपरान्त वहाँ से निकली तो रास्ते में नदी फिर पड़ी। उसने नदी के किनारे भगवान का नाम लिया और नदी पर ऐसे चलने लगी जैसे कोई सड़क पर दौड़ लगा रहा हो। इस पार से उस पार चली गई। अब रोज़ वह इस तरह आती और नदी के किनारे आकर के भगवान का नाम लेती और नदी पार कर जाती। अब पण्डित जी को रोज़ दूध समय पर मिलने लगा तो पण्डित जी ने उससे पूछा - क्या बात है, आजकल तो तुम बिल्कुल समय पर आ जाती हो ? क्या नाविक ठीक टाईम पर आने लगा या और कोई माध्यम से आती हो ? तब लड़की ने मुस्कुराते हुए कहा - पण्डित जी आपने ही तो उपाय बताया था, और अब हम नाविक के सहारे नहीं, अब तो हम आपके उपाय के सहारे आते हैं। पण्डित जी ने कहा - मेरा कौन सा उपाय ? तब लड़की ने कहा - उस रोज़ आपने प्रवचन में नहीं कहा था कि भगवान तो भवसागर से पार उतार देते हैं। भगवान बहुत अच्छे हैं। मैंने सोचा कि भगवान तो इतना दयालु है कि जब वह भवसागर से पार उतार सकता है तो क्या हमें नदिया के पार नहीं उतार सकता। अब तो मैं रोज़ नदी के किनारे जाती हूँ और भगवान् से कहती हूँ कि भगवान मुझे नदिया से पार लगा दो। भगवान मुझे पार लगा देते हैं। रोज़ ही मैं तो भगवान के सहारे आती हूँ। पण्डित जी ने जब इतना सुना तो आश्चर्य से पूछा - क्या तू सच बोल रही है ? लड़की ने कहा - बिल्कुल सच। यद्यपि पण्डित जी ने अपनी जुबान से कहा था कि भगवान भवसागर से पार उतारता है लेकिन उसके दिल के कोने में अभी भी कहीं अविश्वास जमा था। वह पूछ रहा है कि क्या सच में भगवान पार उतार देता है। पण्डित जी ने कहा - चलो, हमें दिखाओगी। तो ग्वालिन लड़की ने कहा - हाँ, चलो हम दिखाते हैं।

जैसे भगवान हमें रोज़ पार लगाते हैं, वैसे ही आपको भी पार लगा देंगे। और आपको तो हमसे भी पहले पार लगायेंगे। क्योंकि आप तो इतने बड़े ज्ञानी हो।

दोनों चलकर नदी के किनारे पहुँचे तो ग्वालिन लड़की ने तो बेहिचक नदी में पाँव रख दिया। भगवान का नाम लिया और नदी में चलने लगी और पण्डित जी से कहा - कि पण्डित जी आप भी आओ। पण्डित जी तो बिल्कुल अचम्भित थे। वह देख रहे थे कि यह तो पानी में चल रही है लेकिन मैं कैसे जाऊँ। अरे पानी बहुत गहरा है, कहीं डूब गया तो ? लड़की ने कहा - आओ देखो, पण्डित जी, भगवान हमें कैसे पार लगा रहा है। आप भी भगवान का नाम लो और आगे बढ़ो। ग्वालिन के आग्रह से पण्डित जी ने बड़े संकोचवश अपनी धोती की अचकन को ऊपर उठाया और पानी में पाँव दिया। पाँव दिया ही था कि धम्म से डूब गये। अब पण्डित जी को समझ में आया कि सच में मैं कहने को पण्डित ज़रूर हूँ पर तुमसे बहुत पीछे हूँ। वहाँ भगवान ने पार नहीं उतारा, पार उतारने वाला यदि कोई था तो वह श्रद्धा थी। उसका विश्वास था। बस हमारे अन्दर उत्पन्न होने वाली श्रद्धा ही हमें पार उतारती है।

तोड़ो चट्टान अहं की पहले

अपने मन का विश्लेषण करके देखो। कहीं कोई शंका तो शेष नहीं है। यदि शंका है तो उसे निर्मूल करने का प्रयत्न करें। उसे दूर करें। निश्चित रूप से आपके जीवन में एक उपलब्धि घटित होगी। और जब तक तनिक भी शंका शेष होगी काम नहीं बनेगा। जहाँ शंका है वहाँ अनेक प्रकार की दुर्बलतायें हैं, भय हैं। आपके मन में एक बार दृढ़ विश्वास बन जाये, सारी समस्यायें अपने आप ही दूर हो जायेंगी। फिर हमें ज़्यादा उपदेश की कतई आवश्यकता नहीं होगी। अपने अहं को गौण करके श्रद्धा को उद्घाटित करने का प्रयास करें। पर मैंने जैसा बताया कि अहं आड़े आता है, जो हमें कुछ भी स्वीकार नहीं करने देता है। हमारे अन्तर्मन को विचलित कर डालता है। हम अहं को दूर करें। हमारे अन्दर श्रद्धा का अजस्र स्रोत है, लेकिन उसके

ऊपर चट्टान पड़ी हुई है। जैसे कहीं चट्टान हो और नीचे निर्मल जलस्रोत हो लेकिन जब तक चट्टान है तब तक नीचे का स्रोत प्रकट नहीं हो सकता। उस स्रोत को प्रकट करना चाहते हो तो चट्टान पर घन का प्रहार करना आवश्यक है। आप चट्टान पर जब निरन्तर घन का प्रहार करोगे तो चट्टान फूटेगी और भीतर का स्रोत प्रकट हो जायेगा। सन्त कहते हैं कि तुम्हारे अन्दर श्रद्धा का अजस्रस्रोत है पर उसमें सम्यक्पुरुषार्थ के घन के प्रहार की ज़रूरत है। एक बार घन का प्रहार करोगे तो वह अहं की चट्टान टूटेगी, निर्मल स्रोत प्रकट होगा और निर्मल प्रवाह से हमारी आत्मा निर्मल होगी। उस निर्मल स्रोत के लिये हमें निरन्तर सक्रिय और सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। उसके लिये आगे बढ़ें। मैंने कहा कि श्रद्धा से अहं नष्ट होता है और अहं के कारण श्रद्धा प्रभावित होती है, दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हैं। श्रद्धा प्रकट हो तो अहं नष्ट हो, अहं नष्ट हो तो श्रद्धा प्रकट हो।

नम्बर मिलाओ, ताला खुलेगा

यह तो ऐसे हो गया कि ताला खुले तो चाबी मिले, और चाबी मिले तो ताला खुले। क्या करें ? कैसे खोलें ताला ? चाबी भीतर है। दोनों चीज़ें एक साथ कैसे हों ? घबराने की ज़रूरत नहीं है। सन्त कहते हैं कि जिस ताले को खोलने का तुम्हें इशारा किया जा रहा है, उस ताले को केवल चाबी से ही नहीं खोला जाता है, वह तो नम्बर मिलाकर भी खोला जाता है। जिस ताले को खोलने की बात आपसे की जा रही है, वह ताला केवल चाबी से ही नहीं खुलता। इसलिये कोई चिन्ता मत करो कि तुम्हारे पास चाबी है कि नहीं है। ताला खोलने का लक्ष्य है। ताला खोलो, चाबी हाथ में नहीं है ? तो कोई बात नहीं है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु से अपना नम्बर मिला लो एकपल में तुम्हारे अहं का ताला खुल जायेगा। देव, शास्त्र, गुरु से अपना नम्बर मिलाइये। आपका सारा काम हो जायेगा। देव, शास्त्र, गुरु की यही भूमिका है। इस भूमिका का स्पर्श पाते ही हमारे जीवन की दिशा और दशा दोनों परिवर्तित हो जाती हैं। हमारा जीवन धन्य हो जाता है। इसलिये ऐसी श्रद्धा

हमारे हृदय में प्रगाढ़ होनी चाहिये। शंका का स्थान ही नहीं बचना चाहिये। बस एक बार सम्यक्श्रद्धान हो गया, सो हो गया।

बन्धुओ, जैसे किसी बीज में घुन लग जाये तो बीज अंकुरित नहीं होता। उसी तरह शंका का घुन लगने पर श्रद्धा का बीज अंकुरित नहीं होता। इसलिये अब शंका का घुन दूर कीजिये और विश्वास की धुन में जीना शुरू कीजिये। शंका का घुन खत्म होना चाहिये। श्रद्धा की धुन अपने मन में होनी चाहिए। जीवन अपने आप निहाल हो जायेगा। फिर ज़्यादा कुछ कहने और करने की बात नहीं रहेगी। हम लोग अक्सर ऐसा कह देते हैं, लेकिन गड़बड़ी हमारे भीतर ही होती है। यह हमारी दुर्बलता है। श्रद्धेय के प्रति अन्तर्मन से जुड़ने के बाद अपने आप सारे काम हो जाते हैं। चाहे हमारे पास ज्ञान न हो, हमारे पास क्षमतायें न हों, पर यदि हमारे पास श्रद्धान है तो सारे काम हो सकते हैं।

ऐसी बजे विश्वास की वीणा

एक छोटा सा बच्चा भगवान के दर्शन के लिये जाता था। उसकी श्रद्धा को आप देखिये। अलग खड़ा होकर कुछ बुदबुदाता था। लोग सोचते थे कि चार साल का बच्चा है, भगवान की प्रार्थना करता है। लेकिन अबोध बच्चा प्रार्थना क्या करता होगा ? उसके मन में भगवान के प्रति बड़ा गहरा विश्वास था। भगवान के पास जाता था और ए बी सी डी ई एफ जी ऐसा करके पूरा जेड तक पढ़ जाता था और कहता था भगवान दुनिया की जितनी भी प्रार्थनायें बनी हैं वे सब ए से जेड तक बनी हैं। तुम्हें जो प्रार्थना पसन्द हो सो बना लेना। मेरी तो श्रद्धा तुम्हारे लिये अर्पित है। ए से जेड तक मैंने बोल दिया। अब तुझे जो प्रार्थना स्वीकार है सो स्वीकार कर लेना। अब मुझे कुछ नहीं आता है। मैं तो केवल यही जानता हूँ कि तू मेरा भगवान है और मैं तेरा भक्त हूँ। मेरे पास शब्द नहीं हैं पर श्रद्धा है। शब्द तो सीमित होते हैं, श्रद्धा असीम होती है। शब्द हार सकते हैं, पर श्रद्धा कभी हार नहीं सकती है। श्रद्धा की सदैव जय होती है। ऐसी श्रद्धा अपने मन में स्थापित

होती है तो जीवन की स्थिति कुछ और हो जाती है। हम अपने हृदय में ऐसी श्रद्धा को प्रतिस्थापित करने की बात सोचें। निश्चित रूप से वह जीवन की महानतम उपलब्धि के रूप में घटित होगी। हम जिस चीज़ को देखने की कोशिश करें वैसी ही सोचने की कोशिश करें।

मैं आप सबसे कह रहा था ऐसी श्रद्धा निरन्तर बनायें, जहाँ श्रद्धा होगी वहाँ भय भी नहीं होगा। संकोच भी नहीं होगा। आत्मीयता भी अपने आप में बनती है। देखिये, आपकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कई बार ऐसी स्थितियाँ बनती हैं। जहाँ हम देखते हैं कि जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा है, जिसके प्रति हमारे मन में विश्वास है उसके प्रति हम बिल्कुल निश्चिन्त से रहते हैं। श्रद्धा और शंका का खेल माँ और बच्चे के मध्य हम देख सकते हैं। एक छोटा सा बेटा ऊधम-मस्ती करता है और यदि किसी भी प्रकार के संकट या खतरे का संकेत मिलता है, तो वह सीधे माँ के पास आता है और माँ की गोद में जाकर छुप जाता है। माँ उसे अपने आँचल में ढँक लेती है। फिर वह एकदम निश्चिन्त हो जाता है। उसको मालूम है कि मैं माँ की गोद में आ गया हूँ, अब मेरा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है। क्योंकि माँ ही मेरी शरण है और माँ ही मेरे लिये सब कुछ है। कोई भय नहीं। परिस्थितियाँ आज भी वही हैं। सामने वाला मारने के लिये दौड़ रहा है, लेकिन मेरी माँ संरक्षक बन गयी है, अब कोई चिन्ता नहीं है। वह बच्चा भी बहुत समझता है। माँ की गोद में जाने के बाद माँ की भाव-भंगिमा को देखकर निर्णय लेता है। माँ की आँखें क्या कह रही हैं ? प्यार वर्षा रही हैं या डाट ? प्यार वर्षा रही हैं तो मुस्कुरा देता है और अगर माँ की आँखों से डॉट छलकती है तो मुँह छुपा लेता है। उसको पता है कि माँ मुझे चिकोटी ले रही है। लेकिन यह दुलारने के लिये भी है और डॉटने के लिये भी। उस अबोध बालक को भी मालूम है कि कौन सी चिकोटी दुलार की है और कौन सी डॉट की। दुलार होता है तो उसका मन रोमांचित हो उठता है और यदि डॉट होती है तो उसके मन में मासूमियत छा जाती है। ये दोनों स्थितियाँ बनती हैं। हमारे भीतर भी यही स्थितियाँ बनती हैं। जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा और विश्वास

हो उसके व्यवहार के प्रति हम निश्चिन्त रहते हैं। जिसके प्रति अविश्वास होता है उसके प्रति हमारे मन में कदम-कदम पर भय होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि श्रद्धा से युक्त होता है। नि:संदेह अर्थात् संदेह रहित होता है। निर्भय भी होता है।

सम्यग्दृष्टि होता निर्भय

शंका के दूसरे अर्थ पर भी आप सबका ध्यान केन्द्रित करना चाह रहा हूँ। पहली बात तो अपने दिल-दिमाग में अच्छी तरह से स्थापित कर लीजिये। हम अपने देव, गुरु और धर्म के प्रति अन्तर्मन से समर्पित रहें। हमारे मन में उनके प्रति, उनके स्वरूप के प्रति किसी भी प्रकार की शंका न हो। हमारे मन में श्रद्धा होगी तो हमारा उद्धार सुनिश्चित है। अपने भीतर के मिथ्यात्व के तमस् को दूर करने के लिये हमारे पास इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है। जब तक सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति आन्तरिक श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तब तक मिथ्यात्व नष्ट नहीं हो सकता है। हमारे सम्यक्त्व का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है। जिस मनुष्य के अन्तर्मन में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है उसकी शंका दूर होती ही है। उसका भय भी नष्ट हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी अपने शब्दों में कहते हैं -

सम्माइट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥ समयसार

जो सम्यग्दृष्टि होता है वह नि:शंक होता है और जो नि:शंक होता है वह निर्भय होता है। वह सात भयों से मुक्त होने के कारण नि:शंक होता है। अब कोई शंका नहीं, कोई भय नहीं। जहाँ शंका है वहाँ निश्चिंतता नहीं है और जहाँ निश्चिंतता है वहाँ शंका नहीं है। वस्तुत: नि:शंका में निश्चिंतता और शंका में सदैव चिन्ता है, भय है, उद्वेग है, आवेग है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव भय, चिन्ता और उद्वेग जैसी नकारात्मक जितनी भी दुर्बलतायें हैं, नकारात्मक चिन्तवन है, आवेग है, उनसे मुक्त होता है। जीवन जीने की कला को वह जानता है। वह सबके बीच रहता है लेकिन वह अलग ढंग से रहता है।

छोटी-मोटी बातें उसे प्रभावित नहीं कर पातीं। तमाम प्रकार की दुर्बलताओं से मुक्त होकर आनन्दमय जीवन जीता है। उसका चित्त कभी विचलित नहीं होता है। कदाचित् उसके मन में भय उत्पन्न भले ही हो जाये लेकिन भयजन्य व्याकुलता नहीं होती है। भय होना अलग बात है और भयातुर होना दूसरी। भयोत्पादक परिस्थिति के निर्मित होने के कारण उसके प्रति सजगता और सावधानी रखना अलग बात है लेकिन उसकी चिन्ता में रात-दिन मग्न हो जाना अलग बात है।

भय के कितने-कितने रूप ?

सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से मुक्त होता है। हमें अपने आपको इन भयों से मुक्त करने की कोशिश करनी चाहिये। कम से कम अपनी श्रद्धा में यह बात जमा लें ताकि धीरे-धीरे अपनी श्रद्धा को बलवती बनाकर आचरण में भी उतारा जा सके। भय सात प्रकार का होता है - इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, मरणभय, आकस्मिकभय, अत्राणभय और अगुप्तिभय। इसे कहीं-कहीं अपयशभय भी कहते हैं।

इहलोकभय

सबसे पहला भय है इहलोकभय। इहलोक में हम जीते हैं तो इहलोक में दो प्रकार का भय होता है - एक चेतनात्मक और दूसरा अचेतनात्मक। इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग यह सब संसार में चलता रहता है। हम लोगों के मन में प्राय: ऐसा होता है कि मेरे साथ ऐसा न हो जाय, वैसा न हो जाय। अब इष्ट का वियोग है तो इष्ट में पिता है, पत्नि है, पुत्र है, परिवार है, परिजन हैं। किन्हीं का वियोग न हो जाये। कोई असमय में न चला जाये। यह मेरा बड़ा प्रिय है, मुझसे दूर न हो जाये। ये बातें जब मन में हावी होती हैं तो अवश्य ही चिन्ता को जन्म देती हैं। हमारी ज़िन्दगी के चैन को लील लेती हैं। अरे भैया ! जो होना होगा सो होगा, इसमें सोचने की बात क्या है। जिसका संयोग है उसका वियोग होगा ही। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा सब जानता है कि संसार में जितने भी व्यक्ति हैं और जितनी भी वस्तुयें हैं वे मेरे सम्पर्क

में आ रही हैं। यह महज एक संयोग है। संयोग तभी तक टिकते हैं, जब तक कि उनका योग बना रहता है। समय पूर्ण होने पर हर संयोग को टूटना पड़ता है।

कोई इष्ट वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
सर्वे संयोगाः विप्रयोगान्ताः ।

हर संयोग वियोगमय हैं। संयोग के साथ वियोग जुड़ा हुआ है। चाहे कोई कितना इष्ट क्यों न हो ? चाहे कोई कितना अनुकूल क्यों न हो ? उनकी चिन्ता में मैं पागल हो जाऊँगा, लेकिन पाऊँगा कुछ भी नहीं। यह इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग की स्थिति निरन्तर बनती रहती है। आदमी उसको देखकर चले तो उसके जीवन की दिशा कुछ और हो सकती है। सन्त कहते हैं कि इष्ट का वियोग हो जाये और इष्ट के वियोग में जो उसके मन में व्याकुलता होती है वह एक अज्ञानी की पहचान है। ज्ञानी यही जानकर चलता है कि मेरे साथ जिसका जितने दिन का संयोग था, बना रहेगा। जब तक कर्म के अनुकूल संयोग हैं, कोई भी मेरा बाल बाँका नहीं कर सकता। और कर्म के प्रतिकूल संयोगों के होने पर चाहे कितना भी करूँ, जो मेरा इष्ट है वह भी अनिष्ट बन जाता है। इसलिये मैं इससे प्रीति क्यों करूँ ? इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग। अब कोई अनिष्ट योग हो गया। अब क्या करें ? पति हैं तो शराबी हैं। खराब नेचर का है, निकम्मा है, रात-दिन चिल्लाता रहता है। अब हे भगवन् ! इससे कैसे बचें ? यह मेरे पल्ले में कैसे पड़ गया ? मैंने कौन-सा पाप किया था ? माँ-बाप ने न जाने किसके साथ मुझे बाँध दिया। कैसे पाप कर्म का उदय है। रात-दिन ऐसी चिन्ता से व्याकुल होने से क्या मिलेगा ? अब तो जो होना था सो हो गया, उसको निभाने में ही सार है। एक ज्ञानी जीव सोचता है कि यदि ऐसा मेरे साथ हुआ है तो यह मेरे कर्म का उदय है। मुझे यह भी स्वीकार है। और अज्ञानी जीव उसे दूर करने की चिन्ता में रात-दिन उसे कोसता रहता है। अब किसी की पत्नि यदि गलत स्वभाव वाली है तो उसे दिन-रात पत्नि के स्वभाव को लेकर चिन्ता रहेगी। क्या होगा ?

कुछ रिश्ते ऐसे होते हैं, जो निभा भी नहीं पाते और छोड़े भी नहीं जाते। क्या करोगे ? जब निभाना तुम्हारी नियति है, तो रो-धोकर निभाने की अपेक्षा प्रसन्नता से निभाओ। तुम्हारे जीवन की दिशा ही कुछ और हो जायेगी और तुम्हारे जीवन में अलग ही आनन्द की अनुभूति होगी। अपनी ऐसी दशा बनाने की कोशिश करनी चाहिये। ठीक है चाहे पति हो, चाहे पत्नि हो, चाहे पिता हो या पुत्र हो। कोई हो। संसार में ऐसी स्थितियाँ तो बनती ही रहती हैं। हर व्यक्ति यह सोचकर के चले कि मेरे जीवन में सदैव अनुकूलता ही अनुकूलता बनी रहें तो यह असंभव है।

राह निकालें हम खुद अपनी

मैंने आपसे पहले भी कहा था कि संसार सपाट मैदान नहीं होता है। यह तो नदी की तरह बहुत अधिक उतार-चढ़ाव वाला होता है। इसके मध्य होकर हमें आगे बढ़ने की आवश्यकता है। यह हमें करना ही पड़ेगा। हर व्यक्ति को अनुकूलता नहीं होती है। हम हर जगह देखते हैं, पिता और पुत्र के बीच मन-मुटाव होता है। पति और पत्नी के बीच में तनाव होता है। भाई-भाई के बीच खाई होती है। यह तो संसार की नीति है। यह सब तभी तक है जब तक हम अज्ञानता में जी रहे हैं। जो ज्ञानी जीव होता है वह उन सब चीज़ों को सहजता से स्वीकार करता है और प्रतिकूल को भी अनुकूल बनाने की सामर्थ्य विकसित कर अपने जीवन को धन्य कर लेता है। इसीलिये **इहलोकभय**, इससे क्या चिन्ता ? इष्ट का संयोग हो अथवा अनिष्ट का संयोग हो। चेतन हो अथवा अचेतन हो। अब आप दुकान चला रहे हैं। चेतन में मकान है, गाड़ी है, घोड़ा आदि हैं। अब इसमें किसी का नुकसान न हो जाये। हमारा धंधा न बैठ जाये। कुछ गड़बड़ न हो जाये। अरे, जो होना है सो होगा। ज्ञानी जीव एक ही चीज़ जानता है कि जो मेरी तकदीर में लिखा है उससे ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता है। ये विश्वास यदि तुम्हारे हृदय में स्थापित हो जाये तो तुम्हारे लिये ज़्यादा कुछ करने और कहने की आवश्यकता ही नहीं होगी। फिर तुम्हें अपने आप राह मिलेगी। परिस्थितियाँ तो अपने आप बनती

हैं। लेकिन उन परिस्थितियों के मध्य राह निकालना सबसे बड़ी कला है। वैसी राह हम निकाल लें, तो हमारा जीवन धन्य हो जायेगा। राह को निकालने में असमर्थ हैं तो हमारा जीवन दूभर है। बन्धुओ, जीवन को ध्येय भी बनाया जा सकता है और दूभर भी। दोनों स्थितियाँ हमारे ऊपर निर्भर करती हैं। हम जिस रूप में जीवन को जीने का प्रयास करते हैं, वैसा हमारा सारा काम बनता है। इसलिये ये इहलोकभय भी एक मन की दुर्बलता है। जिस मनुष्य के हृदय में ऐसी दुर्बलता हावी होती है, वह चिन्ताओं और व्यग्रताओं से घिरा रहता है। वह अपने जीवन का रस लेने से वंचित रहता है। ऐसे भय से बचिये।

परलोकभय

दूसरा है परलोकभय। मैं परलोकभय के दो अर्थ लेता हूँ - एक अर्थ यह है कि परलोक जाऊँगा तो क्या होगा और दूसरा अर्थ यह है कि कोई प्राणी मुझे न सतायें। कोई पशु-पक्षी मुझे न मार दे। देवों के द्वारा मुझ पर आक्रमण न हो जाये। किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा कोई नुकसान न पहुँच जाये। इस तरह की अनेक चिन्तायें मन में उत्पन्न होती रहती हैं। भैया, दूसरा तो निमित्त है, उपादान तो मैं स्वयं हूँ। यदि कोई मेरे साथ कुछ अहित भी करता है तो उसका जबावदार तो मैं स्वयं हूँ, उसका भागीदार भी मैं हूँ। कर्म तो मेरे कार्य में आड़े आते हैं। वह तो केवल निमित्त हैं। अज्ञानी निमित्त की तरफ देखता है और अज्ञानी निमित्त की तरफ न देखकर उपादान की तरफ देखता है। मैं किसकी चिन्ता करूँ ? जो जब जैसा होना होता है वह वैसा ही होता है और जो होता है सब अच्छे के लिये होता है। ये दो बातें अपने दिल-दिमाग में बैठा लें। अर्थात् चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं होगी। ठीक है झेलना तो पड़ ही रहा है। ये कुछ ऐसी ही दृष्टियाँ है जिनको आप आत्मसात् कर लो तो तमाम प्रकार की प्रतिकूलताओं में भी आप अपने मन की प्रसन्नताओं को टिकाये रखने में समर्थ हो सकोगे।

चोरी के पैसों से दान ? तू बनना चाहता महान्

मैं परलोक जाऊँगा तो मेरा क्या होगा ? यह चिन्ता ? अरे जो यहाँ किया, वही वहाँ मिलेगा। परलोक की चिन्ता क्यों करें ? दो प्रकार के विद्यार्थी होते हैं - एक विद्यार्थी होता है जो साल भर पढ़ता नहीं है और परीक्षा के बाद रिजल्ट के प्रति चिन्तित रहता है। पता नहीं कि मैं पास होऊँगा कि फेल। सालभर पढ़ा नहीं, तो चिन्ता ही करनी पड़ेगी। पढ़ा नहीं और पेपर दे आये तो पास होऊँगा या फेल, यही सोचना होगा। जबकि दूसरा लड़का वह है जो सालभर मेहनत करता है, पढ़ाई करता है और परीक्षा देकर आता है और रिजल्ट खुद घोषित कर देता है, कि मैंने पेपर ऐसा किया है तो इतने नम्बर मिलेंगे। उसे चिन्ता की कोई ज़रूरत नहीं होती।

इसी तरह जो व्यक्ति ज़िन्दगी भर सत्कर्म करता है उसे परलोक की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं होती है और दुष्कर्म करने वाला चाहे कितना भी भयभीत क्यों न हो उसे कष्ट तो भोगना ही पड़ेगा। परलोक की चिन्ता करके क्या पाओगे, उस चिन्ता से अपने आपको मुक्त करो। अपने आपको बचाने की कोशिश करो। देखो जीवन में कैसी अनुभूति होती है। कैसा आनन्द आता है। जीवन की दशा और दिशा अपने आप परिवर्तित हो जाती है।

एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है। एक बार एक आदमी मरा और वह मरकर यमराज के पास पहुँचा। चित्रगुप्त ने पूछा कि आये हो तो बताओ स्वर्ग जाना चाहते हो कि नहीं ? ज़िन्दगी में कोई अच्छा काम किया या नहीं। उसको कुछ याद ही नहीं। सारी ज़िन्दगी पाप करता रहा, कुकर्म करता रहा। तो उसको केवल कुकर्म ही याद थे। अच्छा काम करने का कोई स्मरण ही नहीं था। पूछा - भाई कोई अच्छा काम याद करके बताओ। हम तुम पर दया करके तुम्हारी व्यवस्था बना देंगे। एकाध भी अच्छा कार्य किया हो तो स्वर्ग भेजने की बात सोचेंगे। बहुत देर के बाद वह बोला - मैंने एक भिखारी को चवन्नी दान दी थी। पूछा - चवन्नी कहाँ से आई थी ? वह बोला - एक की अठन्नी चुराई थी। चित्रगुप्त बोले - तो जाओ नरक में।

अठन्नी चुराकर चवन्नी दान में देने वाला नरक में नहीं जायेगा तो कहाँ जायेगा ? ज़िन्दगी भर कुकर्म करोगे तो उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिये सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो इस विश्वास में चलता है कि आज मैंने अच्छा काम किया है तो परिणाम भी अच्छा होगा, अच्छे काम का परिणाम सदैव अच्छा होता है। लेकिन क्या करें ? आज के लोग हैं कि बुरा करने से चूकते नहीं और बुरे अंज़ाम से बचना चाहते हैं। जो करोगे अंज़ाम तो वही होगा। बुरे अंज़ाम की बात मत सोचो, बुरे काम करने से बचो। बुरे काम छूटेंगे तो बुरा अंज़ाम होगा ही नहीं। अच्छे काम का अच्छा अंज़ाम और बुरे काम का बुरा अंज़ाम।

कल की चिन्ता में खो दिया आज

जो इस काम को जानता है वह कभी परलोक की चिन्ता नहीं करता है। यह भी एक दुर्बलता है। चिन्ता करने से परलोक बिगड़ेगा, सुधरेगा नहीं। हाँ, परलोक सुधारने का भाव मन में हो, तो अपने जीवन को सुधारने की कोशिश करो। इहलोक को सुधारोगे तो परलोक अपने आप सुधर जायेगा। मैं देखता हूँ कि बहुत सारे लोग परलोक सुधारने के चक्कर में तो लगे रहते हैं पर इहलोक सुधारने की कोशिश भी नहीं करते हैं। ये वे लोग हैं, जो आने वाले कल की चिन्ता में आज को विफल कर देते हैं। ध्यान रखना, जो कल की चिन्ता में अपने आज को विफल कर देते हैं, उनका कल कभी सफल नहीं हो सकता है। वे अपने जीवन को सफल नहीं कर सकते। आने वाले कल का बीज आज में है। हम आज जो करेंगे उसका परिणाम कल होगा उसकी क्या चिन्ता करना ? इहलोक का भय और परलोक का भय, ये भी दुर्बलतायें ही हैं। ये जितने प्रकार के नकारात्मक भाव हैं, वे मनुष्य के मन में बहुत तेजी से हावी होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव निगेटिविटी से रहित होता है। जो बहुत पॉजीटिव एटीटचूट वाला होता है वह हर चीज़ को सकारात्मकता से देखता है। उसके मन में इस तरह की दुर्भावनायें आती ही नहीं हैं। जो है, जैसा है, उसे सहज भाव से स्वीकार करो और जीवन के परम रस का आनन्द लो। वस्तुतः इसी में सार है।

लेकिन जो व्यक्ति नकारात्मकता से भरे रहते हैं, उनके दिल-दिमाग में अनेक प्रकार की विकृतियाँ जन्म लेती हैं। जैसे कोई भला-चंगा आदमी है, वह मुझे बीमारी न हो जाये, मैं बीमार न पड़ जाऊँ, ऐसी चिन्ता करता है। एक बार एक बहिन मेरे पास आई, बहुत डिप्रेशन में थी वह। मुझसे उनके परिवार वालों ने कहा - महाराज इसे समझाओ, यह बहुत डिप्रेशन में है। लगता है कि जीवन से हाथ न धो बैठे। मैंने कहा - क्या बात है ? आप सुनकर ताज्जुब करोगे कि उस बहिन की एक सहेली को सफेद दाग हो गया था। आजकल तो सफेद दाग की बीमारी बहुत तेजी से बढ़ रही है। वह बहिन भी इसीलिये डिप्रेशन में चली गयी, कि डॉ० ने कहा कि किसी को भी हो सकता है यह। अरे, इतना भय कि डिप्रेशन में चली गई। अरे भैया, दाग होना होगा तो कोई रोक लेगा क्या ? अभी हुआ नहीं, किन्तु चिन्ता शुरू हो गयी। यह बहुत खतरनाक चीज़ है। ऐसी चिन्तायें मन में बहुत तेजी से व्याप्त हो जाती हैं। अरे, होना होगा तो कोई रोक नहीं सकता और नहीं होना होगा तो कोई ला भी नहीं सकता। यह संयोग-वियोग संसार में चलता रहता है। जैसा अनुकूल-प्रतिकूल होना होगा, होगा। इसकी चिन्ता में अवसादग्रस्त होने से आपका आज आपके हाथ से जा रहा है।

चिन्ता नहीं चिन्तवन करें

ध्यान रखना सम्यग्दृष्टि पुरुष कभी भी डिप्रेश नहीं होता है और जो होते हैं वे कभी सम्यग्दृष्टि नहीं होते। चिन्ता, संताप और अवसाद सम्यग्दृष्टि व्यक्ति से कोसों दूर रहते हैं। सम्यक् के आलोक में हम अपने मन की तमाम दुर्बलताओं को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं। उनको अपने आप से दूर करने की कोशिश कीजिये और देखिये कैसा परम रस प्रकट होता है। कैसा आनन्द आता है और कैसी परम अनुभूति होती है।

वेदनाभय

ध्यान रखना, दो बातें हैं - एक है सजगता और एक है शंका। सजगता होना और बात है और शंका होना भिन्न। शंका में भय है और सजगता में

सावधानी। भावी अनिष्ट से बचने के लिये बढ़ती जाने वाली सावधानी बुद्धिमानी है। भावी की चिन्ता में मूढ़ हो जाना भारी मूर्खता है। चिन्तामूढ़ मत होईये। चिन्तवन करके हर समस्या का हल निकालिये। बीमार हो जायें तो क्या करें ? अभी हुये तो नहीं। आज आपको बतायें कि लोग तन की बीमारी कम भोगते हैं, मन की बीमारियाँ अधिक भोगते हैं। जितने भी लोग बीमार हैं वे मन की बीमारी से बीमार हैं। तन की बीमारी का इलाज़ तो संभव है, लेकिन मन की बीमारी का इलाज़ मुश्किल है।

मन के जीते जीत है, मन के हारे हार

आजकल एक नई पद्धति विकसित हुई है - सेल्फ हीलिंग। जो बिना दवाई के आदमी को ठीक करती है। सेल्फ हीलिंग में बहुत डेव्हलपमेन्ट हुये हैं। भारत और विदेश, दोनों में काफी रिसर्च हुये हैं। सभी एक ही बात कहते हैं कि मनुष्य अपने आत्म विश्वास को जगाये और अपनी निगेटिविटी को खत्म करे। अपने भीतर के जितने निगेटिव इमोशन्स हैं, अन्दर की जो सारी रुग्ण मानसिकता और विकृतियाँ हैं, उन्हें दूर किया जा सकता है। वातावरण से ऊर्जा से ग्रहण करके अपने आपसे डेव्हलप होने की बात सिखाई जाती है। उसमें बताया जाता है कि मेरे भीतर की सारी बीमारियाँ खत्म हो रहीं हैं। मेरे भीतर के सारे निगेटिव इमोशन्स दूर हो रहे हैं। इस धारणा के बल पर अपने बड़े से बड़े रोगों पर काबू पाया जा सकता है और लोग पा रहे हैं। यह है सेल्फ हीलिंग। आज यह प्रक्रिया चालू हुई है।

सम्यग्दृष्टि जीव तो पहले से हील रहता है। उसे हीलिंग की ज़रूरत ही नहीं होती। उसको उद्घाटित करना आवश्यक है। हम इन सब बातों को दिमाग से निकाल दें। वेदना हो, पर वेदना की आकुलता मन में नहीं होनी चाहिये। वेदना आई है तो उसका प्रतिकार करो। घबराओ मत। ध्यान रखना, आपके शरीर में कोई वेदना है उस वेदना को आप रो-धोकर भोगेंगे तो आपकी वेदना उतनी अधिक बढ़ेगी और वेदना को समता से स्वीकार करोगे तो वेदना अपने आप शान्त हो जायेगी।

असाता को बदलें साता में

सिद्धान्तशास्त्र कहते हैं - यदि आपके असाता कर्म का उदय चल रहा है और उस समय आपके मन में समता का भाव बना है तो असाता भी साता में परिवर्तित हो जायेगी। और यदि आपके पुण्य का उदय चल रहा है और आपके मन में कोई दुर्भाव चल रहा है तो आपकी साता भी असाता के रूप में परिवर्तित हो सकती है। यह हमारे अन्दर की विशुद्धि और संक्लेश का परिणाम है। विशुद्धि पाप को पुण्य में परिवर्तित कर सकती है और संक्लेश के निमित्त से पुण्य पाप में परिवर्तित हो जाता है। इसलिये जब कुछ हो तब अपनी सहनशीलता को बढ़ायें। आपको परम आनन्द की अनुभूति होगी और आप वह सब कर सकते हैं।

छोड़ें नहीं धैर्य का साथ

आप लोगों को बीमारियाँ होती हैं, हम लोगों को भी बीमारियाँ होती हैं। मैं लोगों को देखता हूँ कि थोड़ी-सी बीमारी में भी गहरे डिप्रेशन में चले जाते हैं। सोचते हैं कि क्या करूँ, क्या न करूँ ? अरे भैया, तुम्हारे पास पचास उपाय हैं। हर तरह के उपचार कर सकते हो। चौबीस घण्टे दवाईयाँ खा सकते हो। हर तरह की मेडीसिन उपलब्ध है, फिर भी रोते हैं। महाराज ऐसी बीमारी हो गयी, वैसी बीमारी हो गयी।

शरीरं खलु व्याधिमन्दिरम्।

यह शरीर व्याधियों का घर है। साधुओं को भी गंभीर बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। अन्तर केवल इतना है कि आप बीमारी के आगे विचलित हो जाते हैं और बीमारी साधुओं से विचलित हो जाती है। बीमारी को समता से स्वीकारो तो स्वयमेव दूर हो जाती है। आप लोगों को थोड़ा भी बुखार आता है तो झट से डाक्टर के पास चले जाते हैं। तुरन्त सलाइन चढ़वाना शुरू कर देते हैं। दस-पाँच दस्त लग जाते हैं तो ड्रिप लगवा लेते हैं। हमें लगे तो हम क्या करें ? आप यह सभी उपचार कर सकते हो। हमें तो दवाईयाँ भी नहीं लेना है। लेना भी है तो चौबीस घण्टे में एक बार, वह भी आयुर्वेद

की, जो बहुत देर से असर करती है। आप ड्रिप लगवाते हैं। ड्रिप तो हम भी लगाते हैं। आप तन में ड्रिप लगवाते हैं और हम मन की ड्रिप लगवाते हैं। तन की ड्रिप काम करे या न करे, मन की ड्रिप तो तत्काल काम कर जाती है। इसलिये अपनी सहनशीलता को बढ़ायें। आपके अन्दर अगर कोई बीमारी है तो आप इसे अपनी तकदीर का फल मानिये, दूसरे ने आपको बीमार नहीं बनाया। उस बीमारी को आप झेल लीजिये। कई-कई बार तो लोगों के मन में ऐसी चिन्ता होती है, कि छोटी-सी बीमारी में भी बहुत बड़ी चिन्ता बन जाती है। एक मानसिक रोगी डाक्टर के पास गया और बोला - अरे, डाक्टर साहब कल रात मैंने बड़ा खतरनाक सपना देखा। बोले - क्या देखा ? मैं रात में सो रहा था, कि मेरे पेट से चूहा निकल गया। डाक्टर ने कहा - हद हो गई, चूहा ही तो निकला है कोई हाथी थोड़े ही निकला। मरीज बोला इसलिये ही तो आया हूँ। पेट से होकर रास्ता बन गया है। आज चूहा निकल गया, कल हाथी निकल जायेगा। ऐसे लोगों को हम क्या कहेंगे ? इन फिज़ूल की बातों में चिन्तित होने वाले अपने जीवन में परम रस से वंचित रह जाते हैं। इस वेदना के भय से अपने आपको मुक्त कीजिये। अपनी सहनशीलता और सामर्थ्य को विकसित कीजिये। देखिये जीवन में कैसे आनन्द की अनुभूति होती है। वही जीवन का परम रस होगा। ऐसा प्रयास कीजिये।

आकस्मिकभय

परलोकभय, वेदनाभय और अब आकस्मिक भय। कई लोग ऐसे होते हैं, जिनके मन में उल्टा ही आता है, अच्छा नहीं आता। अरे एक्सीडेंट न हो जाये, घाटा न लग जाये, बीमार न हो जायें, कोई हमसे गुस्सा न हो जाये, लड़ाई न हो जाये। अच्छा नहीं सोचता। यह भी दुर्बलता है। यह नकारात्मक सोच का नतीजा है। ध्यान रखना, मनुष्य का जैसा नज़रिया होता है वैसा ही उसका जीवन होता है। जो व्यक्ति नकारात्मक नज़रिये से भरा रहेगा वह जीवन के सार को प्राप्त नहीं कर सकता है। जिस व्यक्ति के पॉजिटिविटी बनी रहती है उस व्यक्ति के जीवन से बड़ा रस किसी के जीवन में आ नहीं

सकता। फ़िजूल की बातें दिमाग से निकालिये। आपके मन में न जाने कैसी-कैसी कुशंकाएँ होती हैं। मान लो आपका लड़का पहली बार कहीं गया है। फ्लाईट से जा रहा है, तो आपके मन में यह बात नहीं आयेगी कि मेरा बेटा कितना अच्छा हो गया है कि आज पहली बार फ्लाईट से बॉम्बे जा रहा है। वह कितना सफल हो गया है। हाँ, यह बात ज़रूर आयेगी कि बेटा पहली बार फ्लाईट से जा रहा है, कहीं क्रैश न हो जाये ? कितना नकारात्मक नज़रिया है। बेटा अकेले बाहर गया है। पर आपके मन में यह बात नहीं आती कि मेरा बेटा कितना योग्य हो गया, अकेले बाहर जाकर काम सम्हाल रहा है। पर आप सोचते हैं - अरे, अकेला गया है, कहीं किसी के चक्कर में न पड़ जाये। इसी बात का तो विचित्र चक्कर है। यह चक्कर ही बड़ा विचित्र है। यह जो आकस्मिक भय की चिन्ता मन में सताती रहती है कि ऐसा न हो जाये, वैसा न हो जाये। यह बहुत बड़ी दुर्बलता है।

जीवन में आ जाय सहजता

सम्यग्दृष्टि कहता है कि जो होना होता है, वह होता ही है। अब मुझे किसी चीज़ का भय नहीं है, अच्छा हो तो मुझे स्वीकार है, बुरा हो तो मुझे स्वीकार है। क्योंकि मैं तो अच्छे और बुरे में समभाव बनाकर जीने का आदी हूँ, उसका ही अभ्यासी हूँ, इसलिये अब मुझे अच्छे और बुरे की चिन्ता नहीं। ये जो अशुभभाव हैं, उसे मन से निकालिये और ध्यान रखिये कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हमारे मन में जब नकारात्मक चिन्तवन हावी होता है, तब हमारे अमंगल सोच के कारण हमारे मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगें सामने वाले को प्रभावित कर लेती हैं और बहुत कुछ संभव है कि जो हम सोचते हैं वह घटित हो जाता है। इसलिये किसी के भी प्रति उल्टा मत सोचो और स्वयं के प्रति भी उल्टा मत सोचो। अच्छा ही सोचो। हम कर रहे हैं अच्छा तो अच्छे का परिणाम अच्छा ही होगा। अगर मेरी किस्मत में एक्सीडेंट ही लिखा है तो एक्सीडेंट होकर ही रहेगा। मेरी तकदीर में नुकसान लिखा है तो नुकसान होकर ही रहेगा। अब इनकम टेक्स वालों का आना तय है तो आयेंगे। पहले

से ही ऐसी व्यवस्था करो कि आयें भी तो उन्हें कहीं कुछ भी गलत न मिले। फिर भी बन्धुओ, साफ-सुथरा काम करें और यदि कुछ होता है तो उसे सहज भाव से स्वीकार करें।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का मतलब जीवन में सहजभाव उत्पन्न हो जाना है। जिस मनुष्य के जीवन में सहजता प्रकट हो जाती है उसके आनन्द की कोई सीमा ही शेष नहीं रहती है। यह सहज भाव से स्वीकार करो। अच्छे और बुरे को समभाव से देखो। तुमसे बड़ा सुखी संसार में दूसरा नहीं होगा। वस्तुतः हमें न कोई सुखी करता है न दुःखी करता है। हमारा ही नजरिया हमें सुखी बनाता है और हमारा ही नज़रिया हमें दुःखी बनाता है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का मतलब सही नजरिये को प्रकट कर देना है। और वह नज़रिया एक बार प्रकट हो गया तो हमारा जीवन अपने आप धन्य हो जाता है।

मरणभय

यह हुई आकस्मिक भय की बात। मरणभय भी बड़ा खतरनाक है। मैं मर न जाऊँ? सबसे ज़्यादा भय है मरण का। अरे! जन्म लिया है तो मरोगे ही। हमारा जन्म ही मरण के लिये हुआ है। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जो अजर-अमर हो। जिसने जन्म लिया, उसका मरण निश्चित है भला मरण से घबराकर जाओगे कहाँ?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च

हमारा मरण तो उसी दिन तय हो गया था, जिस दिन हमने जन्म लिया था। ध्यान रखना जन्म के साथ मृत्यु का वारंट हमारे साथ जुड़ा होता है। जिसने जन्म लिया उसका मरना निश्चित है। फिर मैं इस मरण से क्यों भय करूँ? जन्म तन का हुआ है तो मरण भी तन का होगा। सम्यग्दृष्टि यह सोचता है कि तन ने जन्म लिया है तो मरने वाला भी तन है। न मैं जन्मा हूँ, न मैं मरूँगा। मैं तो अजर-अमर हूँ, अविनाशी हूँ। न मेरा जन्म हुआ, न मैं मरूँगा। मेरा तो स्वरूप जैसा है, सो ही हूँ। आत्मा न ही जन्म लेती है और न ही आत्मा का मरण होता है।

मौत का बस एक दिन मुअय्यन है

आत्मा तो आत्मा है। जिसे आत्मा पर विश्वास है, जन्म और मरण का उस पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है। लेकिन लोग हैं कि जन्म और मरण की बात सोचकर बड़े व्याकुल होते हैं कि मैं मर न जाऊँ। ध्यान रखना आदमी ज़िन्दगी में मरता एक बार है लेकिन मरने की चिन्ता में सारी ज़िन्दगी मृतक के समान रहता है। जिस मनुष्य को जितना अधिक मरण का भय हावी होगा वह उतना ही जीते जी मुर्दे के समान है। वह जीवन रस नहीं ले रहा है। जीते जी मर रहा है। सन्त कहते हैं कि मरना है तो मरो, पर अच्छे से और एक बार ही मरो। मरण से घबराओ नहीं। मरण के भय से परेशान मत होओ। मृत्यु के भय से भयभीत होने की जगह मृत्यु की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को स्वीकार करो। अपने जीवन को मृत्युंजयी बनाने का प्रयत्न करो। जो व्यक्ति मृत्यु की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को स्वीकार कर अपने जीवन को सँवारने में संलग्न हो जाते हैं वे मृत्युंजयी बनने का सौभाग्य अर्जित करते हैं। अपने वर्तमान जीवन को सम्हालो। मरण से घबड़ाकर आखिर पाओगे क्या? मृत्यु से जितने भी दूर भागोगे, मृत्यु तो तुम्हारे साथ लगी है उससे बच नहीं सकोगे।

एक राजा को किसी ने बता दिया कि आठ दिन बाद तुम्हारी मृत्यु होगी। यमदूत तुम्हारे पास आयेंगे और तुम्हें ले जायेंगे। ऐसा कोई यमदूत नहीं है, यह केवल लोकख्याति है। जन्म-मरण तो आयु के संयोग-वियोग पर निर्भर है। पर कहानी है और हमें इससे शिक्षा लेनी है तो देखे क्या कहती है कहानी। यमदूत आयेगा और तुम्हें ले जायेगा। तुम जहाँ जाना चाहो, जहाँ छुप सकते हो छुपो। अब क्या करें? राजा ने बहुत दिमाग लगाया। उसने सोचा मेरे पास एक बहुत तेज दौड़ने वाला घोड़ा है। एक पल में आसमान से बातें करने लगता है। क्यों न मैं इस घोड़े पर सवार होकर इस दुनिया से बहुत दूर चला जाऊँ। ऐसी जगह चला जाऊँ जहाँ मौत की भी पहुँच न हो। वह घोड़े पर सवार होकर काफी दूर निकल गया। उसे ऐसा लगा कि ऐसी

जगह आ गया हूँ जहाँ मौत नहीं पहुँच सकती। काफी लम्बी यात्रा कर लेने के कारण वह थक गया था। उसकी हालत भी पस्त हो गयी थी। कुछ विश्राम करने के भाव से उसने घोड़े को रोका, और उसे पेड़ से बाँध दिया। आराम करने की दृष्टि से या अपनी कमर सीधी करने की भावना से पीछे की तरफ मुड़ा ही था कि किसी ने उसके बाल पकड़ लिये। मुड़ करके देखा और बोला कौन है ? वह बोला मौत हूँ। राजा ने कहा कि यहाँ क्यों आयी हो ? मैं तुम्हें लेने के लिये ही जा रही थी, अच्छा ही हुआ तुम खुद चलकर यहाँ आ गये। हमें आगे जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। अब तुम्हारा वक्त आ गया है। अब मेरे साथ चलो।

करें मृत्यु का आह्वान

तुम मृत्यु से जितना दूर भागोगे मृत्यु तुम्हारे उतने ही नज़दीक पहुँच जायेगी। मृत्यु से दूर भागने से मृत्यु से नहीं बचा जा सकता। मृत्यु का अभिनन्दन करने वाले मृत्यु से बच सकते हैं इसलिये मरण से घबराईये मत, सुमरण हेतु प्रयत्नशील रहिये। आपका काम अपने आप हो जायेगा। मरण की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को स्वीकार करके अपने जीवन की दिशा को, अपने जीवन के क्रम को जो व्यक्ति बदल देते हैं उनका जीवन कुछ और ही हो जाता है। ये मरण भय है। यह अर्थहीन है। इससे अपने आपको बचाने की कोशिश करें। लेकिन करें क्या हमें और बात तो अच्छी लगती है पर मृत्यु की बात अच्छी नहीं लगती।

अपना घर ही अपना मरघट

किसी आदमी से कहा जाय कि जन्मपत्री दिखाओ और उससे कहा जाय कि आप इतने दिन जिओगे। बड़ा अच्छा लगेगा उसे। पर यह कहा जाय कि इतने दिन बाद मर जाओगे तो उसे पसन्द नहीं आयेगा। मरना किसी को भी पसन्द नहीं है। मौत की बात भी किसी को पसन्द नहीं आती। शायद इसीलिए श्मशान को बस्ती से बहुत दूर बसाया जाता है कि वहाँ जाना ही न पड़े और जाना पड़े तो चार लोग घसीटकर ले जायें। पर बन्धुओ, तुम

श्मशान को कितना भी दूर क्यों न रखो, मरघट को कितना ही दूर क्यों न ले जायें, पर मरघट से तुम दूर नहीं हो सकते। मेरी दृष्टि में तो मरघट वह नहीं जहाँ किसी व्यक्ति को जलाया जाता है। मरघट तो वह है जहाँ आदमी मरता है। इस हिसाब से देखा जाये तो तुम्हारा घर ही मरघट है। जहाँ मरने की घटना घटे उसे ही मरघट का नाम दिया जाता है। भागकर कहाँ जाओगे ? घर ही मरघट है, इससे भागोगे तो कहाँ जाओगे ? उससे भागो मत, उसे स्वीकार करो।

स्वागत करें मृत्यु का, बढ़कर

ठीक है हमें उसकी ज़्यादा चिन्ता नहीं, ज़्यादा परवाह नहीं। जो है सो सहज है। उसे स्वीकार करने में हमें कोई चिन्ता की बात नहीं। वस्तुतः ज्ञानी जीव को इस प्रकार की चिन्ता का कोई भय नहीं रहता है और अज्ञानी जीव कभी भय से मुक्त नहीं होता है। मरण जीवन की अनिवार्यता है। जैसे मैंने जन्म को स्वीकारा है वैसे ही हमें मरण को भी स्वीकारना होगा। जन्म-मरण, संयोग-वियोग तो लगा ही है। सूरज उगा है तो अस्त भी होगा। लेकिन क्या करें ? दुनियाँ के लोग सूरज के उगने का तो अभिनन्दन करते हैं लेकिन जब वह अस्त होता है तो उसका ध्यान नहीं रखते। जैसे उगने का अभिनन्दन करते हैं, वैसे ही उसके अस्ताचल में जाने की अनिवार्यता को भी ध्यान में रखना चाहिये। जो इस परम सत्य को जानते हैं, जन्म और मृत्यु के रहस्य को जानते हैं वे मृत्यु से कभी घबराते नहीं हैं।

एक वजीर था, उसकी शिकायतें आयी। राजा नाराज हो गया। नाराजी इतनी बढ़ी कि उसे फाँसी का हुक्म जारी कर दिया। वजीर बड़ा लोकप्रिय था। काफी लोग उसके अनुयायी थे। जिस दिन उसे शूली पर चढ़ाने का हुक्म दिया गया उस दिन उसका जन्म दिन था। उसके सारे शुभचिन्तक और प्रशंसक उसके जन्मदिन को मनाने में लगे हुये थे। बड़ा अच्छा माहौल था और उसी के बीच राजा का फरमान आया। सब तरफ स्तब्धता छा गई। जहाँ जन्म के जश्न का माहौल था वहाँ मौत का मातम-सा छा गया। सब

चुपचाप हो गये। वजीर ने कहा - तुम सब मौन क्यों हो गये ? नाच-गाना बन्द क्यों कर दिया ? लोगों ने कहा - हमारे लिये रोने के क्षण हैं, नाचने के नहीं। कल शाम को पाँच बजे आपको भरी सड़क पर, चौराहे पर शूली पर चढ़ाया जायेगा। ऐसी स्थिति में नाच-गान कैसे हो सकता है। वजीर ने कहा - नाच-गान करते रहो। कल मरेंगे, आज नहीं। मैं कल पाँच बजे शूली पर चढूँगा। इसकी चिन्ता करते हुए मैं समय से पहले नहीं मरना चाहता। मैं तो नाचते-गाते ही शूली पर चढ़ना चाहता हूँ। मैं अपनी ज़िन्दगी के अन्तिम पल तक नाचना ही चाहता हूँ। अपना नाच-गान शुरू करो। राजा ने अपने लोगों से पता किया - बोले अरे ! यह तो उल्टा हो रहा है। मौत का या मातम का माहौल नहीं है। वहाँ तो जश्न मनाया जा रहा है। वहाँ तो ऐसा लगता है कि कोई जनमा है। वह भी लम्बी प्रतीक्षा के बाद। वहाँ बड़ा अच्छा वातावरण है, अच्छा जश्न मनाया जा रहा है। राजा ने अपना हुक्म वापस लेते हुये कहा कि जो आदमी जीना जानता है उसे कोई मार नहीं सकता है।

बन्धुओ, यही सही ज़िन्दगी है। यह हमारे अन्तरंग में विकसित हो जाये, तो हमसे बड़ा भाग्यशाली और कोई नहीं। मरण से घबराने से कुछ नहीं होता है। मरण की अनिवार्यता को स्वीकारें और जीवन को सम्हालने का प्रयत्न करें। निश्चित ही वह हमारे जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि **न मे मृत्युः कुतो भीतिः** जब मृत्यु ही मेरी नहीं है तो मेरे लिये भीति क्या ? जब मेरा जन्म ही नहीं तो मेरी मृत्यु नहीं। मैं अजर-अमर अविनाशी हूँ। फिर मुझे किस बात का डर। जो मरता है वह मैं नहीं हूँ। और जो मैं हूँ वह मरता नहीं। इस तरह जानने से व्यक्ति मृत्यु से घबराता नहीं। वह मृत्यु को जीवन का अनिवार्य सत्य मानकर सहजता से ज़िन्दगी जीता है। मृत्यु के अभिनन्दन के लिये भी उतनी सहजता से तैयार होना चाहिये।

अत्राणभय

इसके बाद का भय है अत्राणभय। संसार में कौन मेरा तारणहार है, कौन मेरा सहारा है ? किसके सहारे मैं इस संसार से पार उतरूँगा ? कोई

मेरा रक्षक नहीं कोई मेरा सहारा नहीं। अरे भाई, अब किसके सहारे की ज़रूरत है ? जिसे भगवान का सहारा मिल गया। देव, शास्त्र और गुरु का सहारा मिल गया, अब उसे किसी के सहारे की ज़रूरत नहीं है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो एक ही बात करता है।

मिल गया है सहारा तेरे नाम का।
अब किसी का सहारा नहीं चाहिये॥

धू-धू जलते पेड़ के नीचे, करे कामना छाया की ?

प्रभो ! तेरा सहारा मिल गया अब मुझे किसी और के सहारे की ज़रूरत नहीं है। तेरे आगे और कोई है ही नहीं। और फिर मैं संसार में किसका सहारा ढूढूँ ? किसकी शरण ग्रहण करूँ ? संसार स्वयं बेसहारा है। वह हमें क्या सहारा दे सकता है ? संसार में ऐसा कोई भी नहीं जो हमें सहारा दे सके। हमारा आधार बन सके। संसार का हर व्यक्ति, हर वस्तु अपने आपमें बेसहारा है। जो स्वयं अशरण है वह हमें कैसे शरण दे सकता है ? जो स्वयं अनाथ है, वह हमें नाथ कैसे बना सकता है ? संसार का हर व्यक्ति, संसार की हर वस्तु अपने आपमें अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है वह मेरा नाथ कभी नहीं बन सकता। इसलिये वह कल के विषय में सोचता नहीं है। वह स्वयं आपकी शरण में जाता है। वह प्रभु की शरण में जाता है और किसी की शरण की बात वह सोचता ही नहीं है। हम अपने ही स्वयं की बात सोचें और किसी की नहीं। बन्धुओ, संसार में शरण ढूँढना तो ऐसा ही है जैसे किसी जलते हुये बाँस के पेड़ के नीचे जाकर कोई व्यक्ति छाया की कामना करे। उसे हम क्या कहेंगे ? वहाँ छाया नहीं मिलेगी, केवल तपन मिलेगी।

संसार में मनुष्य जिस चीज़ को अपनी शरण मानकर चलता है अन्ततः उसे इन्हीं अनुभवों के दौर से गुजरना पड़ता है। वहाँ कुछ भी नहीं मिलता। बन्धुओ, जैसे बच्चे के लिए माँ के आँचल के अलावा दुनिया का कोई भी आँचल अनुकरणीय नहीं है, शरण्य नहीं है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के लिये प्रभु के सिवा और किसी की शरण स्वीकार नहीं है।

छलावा है पूतना का आँचल

आप सबने श्रीकृष्ण के चरित्र प्रसंग को पढ़ा होगा, देखा होगा, सुना होगा ? कंस को पड़ा कि हमारा हन्ता नन्दगाँव में एक शिशु के रूप में पल रहा है। उस स्थिति को जानकर कंस चिन्तातुर हो गया। उसके दरबार में पूतना थी। पूतना को मालूम पड़ा। पूतना ने कहा - आप चिन्ता मत करिये। यह मेरे बॉये हाथ का खेल है। मैं खेल-खेल में ही सारा काम कर लूँगी। आपको इसकी चिन्ता की ज़रूरत नहीं है। आपका हन्ता क्या, नन्दगाँव में अब एक भी शिशु जीवित नहीं बचेगा। कहते हैं कि उस पूतना ने बड़ा मोहक रूप धारण किया। जब मोहक रूप धारण करके वह नन्दगाँव गई तो गाँव के सारे बच्चे उसकी गोद में खेलने के लिये मचल पड़े। सब कोई उसके आँचल में छुपने के लिए उमड़ पड़े। हर बच्चा उसके दुग्धपान करने के लिये इकदम से उमड़ पड़ा। लेकिन परिणाम क्या हुआ ? जो भी बच्चा उसके आँचल में खेला, जिस बच्चे ने उसका दूध पिया वे सब काल-कवलित हो गये। उन्हें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। लेकिन जब बारी श्रीकृष्ण की आयी तो श्रीकृष्ण ने उस पूतना का ही काम तमाम कर दिया। हमेशा के लिये अपने रास्ते से निकाल दिया। क्योंकि श्रीकृष्ण जानते थे कि एक बच्चे के लिए जो माँ के आँचल में सुरक्षा है वह संसार में कहीं भी नहीं है। मेरे लिये मात्र माँ का आँचल ही शरण है, इसके अलावा कोई शरण नहीं है। इसलिये पूतना का मार्ग अलग कर दिया।

बन्धुओ, संसार में जो पदार्थ और चीज़ों को, विषय भोगों के साधनों को अपने लिये शरण और सुरक्षा मानकर चलते हैं वे सब पूतना के आँचल को स्वीकारते हैं। लेकिन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा माँ के आँचल को ही अपने लिये श्रेय मानकर केवल माँ और परमात्मा के अलावा किसी अन्य की शरण नहीं मानता। उन्हें ही स्वीकारता है। जिसके अन्दर यह विवेक होता है वे ही सही और गलत की पहचान कर सकते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि को कहीं से भी अत्राणभय नहीं होता। वह तो अपने आपको तारणहार मान चुका है। वह कहता है कि अब मेरा उद्धार तो हो ही गया। अब मुझे किसी भी बात को सोचने की ज़रूरत नहीं। वह पार उतर गया और उतर कर ही रहेगा।

अगुप्तिभय

आख़िरी भय है अगुप्तिभय। मेरी कोई सुरक्षा नहीं है। मैं असुरक्षित हूँ। कई लोगों को अपनी सुरक्षा का बड़ा भय रहता है। कदम-कदम पर अपने आपको असुरक्षित महसूस करते हैं। बन्धुओ, सन्त कहते हैं कि संसार में किसकी सुरक्षा की बात करते हो ? तुम जिसकी सुरक्षा की बात सोचते हो उसको कभी सुरक्षित रखा नहीं जा सकता है। और जो तुम्हारा स्वयं है, उसको कहीं से खतरा नहीं है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि तन यदि उत्पन्न हुआ है तो नष्ट होगा। तन की सुरक्षा का कोई कितना भी प्रयत्न कर ले, तन कभी भी सुरक्षित नहीं रहता और चेतन को कहीं से कोई असुरक्षा नहीं है। वह तो अजर-अमर है। चेतन जो है, सो है, वहाँ कोई खतरा नहीं। वहाँ कोई समस्या नहीं। लेकिन तन को तो एक दिन मरना ही है। हर किसी को मरना है।

संगीन है, संगीनों की सुरक्षा

कदम-कदम पर सुरक्षा की बात लोग सोचते हैं। कई-कई बार तो ऐसा होता है कि हम संगीनों के माध्यम से अपनी सुरक्षा की बात सोचते हैं, पर संगीनों की छाया में सुरक्षा नहीं होती है। हमारा पुण्य और पाप ही हमारी सुरक्षा और असुरक्षा प्रदान करता है। पुण्य का योग होता है, तो हम सुरक्षित हो जाते हैं, और पाप का योग होता है तो हम असुरक्षित हो जाते हैं। कभी-कभी जब पुण्य की प्रबलता होती है तो जो हमें मारने के इरादे से आता है, वही हमारा तारणहार बन जाता है और पाप की प्रबलता में रक्षक ही भक्षक बन जाता है। हमने अनेक लोगों को देखा है, जिनकी बड़ी से बड़ी उन्नत सुरक्षा की व्यवस्था की गई, पर उनके साथ भी क्या हुआ ? इन्दिरा गाँधी जैसे लोगों को उनकी सुरक्षा में नियुक्त प्रहरियों ने ही मारा। तब हम किसकी बात कहें ? कोई किसी की सुरक्षा कर ही नहीं सकता है। मेरे सम्पर्क में एक उद्योगपति आये। बड़े उद्योगपति थे। उन्हें कहीं से धमकियाँ मिल रही थीं। मुझे कोई मार न दे, इसलिये बड़े चिन्तित रहते थे। वह गहरे डिप्रेशन में आ गये। एक दिन बोले - महाराज श्री, मैं क्या करूँ ? मुझे इस प्रकार की धमकियाँ मिली हैं। अरे भैया ! जिस धमकी की बात सोच रहे हो

उस धमकी से तुम चौबीसों घण्टे अपने साथ बन्दूकधारी को लेकर चलो तो भी तुम उससे बच पाओगे क्या ? इसकी क्या गारंटी है ? अभी तक जो तुम जीवन का परम रस पा रहे थे, इसके कारण अब दिन का चैन और रात की नींद जा रही है। प्रतिपल तुम जो भय के साये में गुज़ार रहे हो, वह तो अर्थहीन है। समझो अपने आपको। ध्यान रखना, जब तक तुम्हारे आयु कर्म का एक अंश भी शेष है तब तक तुम्हें कोई मार नहीं सकता। आयु के नष्ट हो जाने के बाद कोई तुम्हें बचा नहीं सकता। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के अन्दर ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता है, इसलिये वह अपनी सुरक्षा के विषय में ज़्यादा प्रयत्न नहीं करता है।

संसार में कोई किसी की सुरक्षा कर ही नहीं सकता है और जो हमारा अपना तत्त्व है वह पूर्णतः सुरक्षित है। इस सुरक्षात्मक बुद्धि से जो जुड़ा होता है, वह व्यक्ति कहीं से सुरक्षित नहीं रहता है। मैंने उस भाई को समझाया। उसकी दृष्टि बदली आज तक वह भला-चंगा है। मैंने कहा - जिस दिन तुम्हारा जाने का नम्बर आयेगा उस दिन तुम लाख जतन कर लेना कोई बचा नहीं पायेगा। और जब तक तुम्हारा पुण्य का योग है तुम्हें कोई मार नहीं सकता है। तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं हो सकता है। इसलिये इस बात को समझ करके अपने जीवन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करो। निश्चित ही तुम्हारे जीवन में बहुत बड़ी उपलब्धि घटित होगी। और तुम जीवन के परम रहस्य को जान सकोगे।

भय से मुक्त उठे पग अपना

इस प्रकार मैंने आज सम्यग्दृष्टि के प्रथम अंग निःशंकित अंग की चर्चा की। सात भयों से जो मुक्त होता है वही सच्चे अर्थों में सम्यग्दृष्टि होता है। यद्यपि मैं मानता हूँ कि सम्यग्दृष्टि पूर्णतया भयमुक्त नहीं होता है। लेकिन फिर भी भयजन्य व्याकुलता से बच ही जाता है। हमें भय हो लेकिन भयाकुल नहीं हों। भयजन्य वेदना न हो। भय के कारण व्याकुल न हों। कैसी भी स्थितियाँ आती हैं, तो हम पूरी तरह से तैयार रहें। आने वाले भावी अनिष्ट की सम्भावनाओं को देखते हुये सजगता और सावधानी वर्तें। उसे देखकर चिन्तातुर होना, मन को अशान्त करना यह हमें कहीं से भी समझ में नहीं आता। इसलिये इस स्थिति से अपने

आपको बचा करके चलने के की कोशिश कीजिये और सब तरह से भयमुक्त होकर जियें। यही आचार्य कुन्दकुन्द का उपदेश है। वे कहते हैं कि -

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥ *समयसार*

जो सात प्रकार के भयों से मुक्त होते हैं, वे निःशंकित कहलाते हैं। हमारे अन्दर के ये भय दूर हों, क्योंकि भय एक बहुत बड़ी दुर्बलता है और उस दुर्बलता को अपने आपसे दूर करने पर ही हम अपने जीवन का उद्धार कर सकेंगे। अपने जीवन का कल्याण कर सकेंगे।

बन्धुओ, बातें तो काफी होती हैं, लेकिन एक-एक बात को गहराई से समझने की कोशिश करें। जो हमारे जीवन व्यवहार में उतरे और हम अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकें, इसी भावना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

गया ११-०३-०७

धनाढ्य हों, धनान्ध नहीं

जब तक चाह, तब तक दाह

सम्यग्दर्शन वह तत्त्व है जो हमें हमारे आत्म वैभव का परिचय कराता है। सम्यग्दर्शन वह दृष्टि है जिससे हम अपने अन्तर्जगत् का दर्शन कर पाते हैं। सम्यक्त्व की ज्योति के प्रकाश में हम अपने भीतर छुपे खजाने का बोध कर पाते हैं। जिससे मनुष्य के अन्तरंग में इस सम्यक्त्व की ज्योति स्फुटित हो जाती है, उसका जीवन धन्य हो उठता है। आज मैं आपसे उसी सम्यक्त्व की चर्चा करने जा रहा हूँ, जो विगत कई दिनों से आप सबके बीच चल रही है। बात सम्यक्त्व के दूसरे अंग नि:कांक्षित की है। नि:कांक्षित का मतलब है कांक्षातीत हो जाना। कांक्षा का मतलब है चाह और उससे रहित हो जाना नि:कांक्षित अंग है। हर मनुष्य के अन्दर इच्छाएँ, आकांक्षायें तो भरी रहती हैं। इन इच्छाओं और आकांक्षाओं को जीत लेने वाला जन न होकर जिन बन जाता है। संसार में केवल भगवान ही ऐसे हैं जिनके मन में कोई इच्छा नहीं है, जिनके मन में कोई आकांक्षा नहीं है। बाकी जितने भी संसार के प्राणी हैं, वे सभी किसी न किसी इच्छा और आकांक्षा से भरे हुये हैं। हर व्यक्ति के मन में कोई न कोई चाह है और जब तक चाह है तब तक दाह है। हमारे जीवन के दु:खों का मूल कारण मन में उत्पन्न होने वाली चाह है। जिस मनुष्य के अन्तरंग में जितनी अधिक चाह होगी उतनी अधिक आकुलता होगी और जितनी अधिक आकुलता होगी उतना अधिक दु:ख होगा। हम कहते हैं -

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा बे-परवाह।
जिनको कछु न चाहिये, वे शाहं के शाह॥

इच्छाओं का अभाव : भगवत्ता की प्राप्ति

चाह से चिन्ता उत्पन्न होती है इसलिये अध्यात्म की साधना का मतलब है, अपने अन्तरंग की तमाम इच्छाओं का अन्त कर देना। इच्छातीत हो जाना,

आकांक्षा रहित हो जाना और आत्मा के स्वरूप में लीन हो जाना। आचार्य कुन्दकुन्द उस नि:कांक्षितपने की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि -

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्माइट्ठी मुणेयव्वो॥ २३०॥ समयसार

जिसके मन में किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं है, वह नि:कांक्षितपने का धारी सम्यग्दृष्टि है। अगर इस आलोक में हम देखें तो संसार के सामान्य प्राणी सम्यक्त्व से बहिर्भूत दिखाई पड़ेंगे क्योंकि एक भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसके अन्तरंग में कोई भी कांक्षा नहीं हो। किसी न किसी प्रकार की इच्छा तो है ही, लेकिन संत कहते हैं कि आत्मा में लीनता के लिये इच्छा बाधक है। जब तक हमारे अन्तरंग में किसी भी प्रकार की इच्छा है, यहाँ तक कि यदि भगवान बनने की इच्छा भी है, तो वह इच्छा हमें हमारी भगवत्ता से दूर कर देती है। जो स्वस्थचित्त साधक होते हैं, वे अपनी आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। अपनी आत्मा में डूब जाते हैं। उनकी सारी इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। क्योंकि जब तक हमारे मन में इच्छा है, तब तक आकुलता है और आकुलता हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा स्वभाव तो मोह और क्षोभ से रहित परिणति है, जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है, जिसमें किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं है। जैसे शान्त सरोवर के निर्मल जल में हमें हमारी शान्त छवि का दर्शन होता है, वैसे ही इच्छातीत साधक ही अपने भीतर के परमात्मस्वरूप का दर्शन कर पाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाये तो उस परमात्मस्वरूप के द्रष्टा ही सही सम्यग्दृष्टि हैं, जो कि अपनी आत्मा में स्थिर हो चुके हैं और उस सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होते ही सारी चाह अपने आप शान्त हो जाती है। वह परम सम्यक्त्व की बात है।

खतम करें, चाह की चाहत

बन्धुओ, वह चर्चा यदि मैं आपसे करूँ तो वह आपके जीवन में संभव नहीं है। गृहस्थों का जीवन इच्छातीत नहीं होता है। यहाँ तक कि साधारण योगियों का जीवन भी इच्छातीत नहीं होता है। इच्छातीत होना केवल ध्यानात्मक परिणति है। जब कोई साधक ध्यान में लीन होता है तभी उसकी सारी इच्छायें खत्म होती

हैं। तो फिर हम इस नि:कांक्षितपने को अपने जीवन में उतारें कैसे ? सन्त कहते हैं - चाह को कम करें। चाह दो प्रकार की होती है - एक अन्तहीन चाह और दूसरी सीमित चाह। ध्यान रखना तुम्हारे अन्दर जब तक चाह है, तब तक आकुलता है। क्योंकि चाह रहने से चिन्ता और संताप बने रहेंगे। जीवन का परम सुख चाह के साथ प्रकट नहीं हो सकता है।

कुछ को छोड़ा, सब कुछ पाया

कुछ भी चाहोगे तो कष्ट तो होगा ही। एक बार एक सेठ ने नाई से कहा - हमारी हजामत बना दीजिये मैं तुम्हें कुछ दे दूँगा। यह कुछ बड़ा खतरनाक होता है। नाई ने हज़ामत बनाई और हज़ामत बनाने के बाद सेठ जी पाँच रूपया देने लगे। नाई ने कहा - सेठ जी, आपने जो कहा था, वह दो। सेठ जी ने कहा कि मैंने क्या कहा था ? नाई ने कहा - आपने कुछ देने के लिये कहा था। इसलिये कुछ दो। हमें पाँच रूपये नहीं चाहिये। सेठ बड़ी मुसीबत में फँस गया। अब क्या करें ? सेठ जी पाँच से बढ़कर पचास तक पहुँच गये, लेकिन नाई अड़ा रहा कि मुझे तो कुछ चाहिये। सेठ जी भी पक्के बनिया थे। बोले ठीक है, मैं तुम्हें कुछ देता हूँ। एक काम करो। पास में सुराही रखी है और मुझे प्यास लग रही है। इसलिए एक ग्लास पानी लेकर आओ। वह गया और उस सुराही में देखने लगा। सेठ जी ने पूछा - क्या देख रहे हो ? नाई ने कहा - मालिक इसमें कुछ डला है। सेठ जी ने कहा - ठीक है, उस कुछ को तुम ले लो। हो गया तुम्हारा हिसाब। तय है कि जब तक हमारे मन में कुछ की चाह है, हमारे हाथ केवल कचरा लगेगा। सच में जो कुछ में अटके हैं, उनके हाथ में कचरा है और जो इस कुछ को छोड़ गये, उनके हाथ में सब कुछ है। सब कुछ तब प्रकट होता है जब हमारा चित्त स्वस्थ होता है। उस इच्छातीत भूमिका में पहुँचना केवल योगियों के लिये संभाव्य है। पर हम साधारण प्राणी उस नि:कांक्षितपने को कैसे प्राप्त करें ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी हम सबका मार्गदर्शन करते हुये कहते हैं कि -

कर्मपरवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षा स्मृता ॥ १२ ॥

जल से भिन्न कमलवत् जीवन

संसार का जो सुख है, वह कर्माधीन है, पराधीन है और अन्त से सहित है। ऐसे सांसारिक सुखों के प्रति अनास्था का भाव रखना ही गृहस्थ का नि:कांक्षितपना है। चाह से अतीत हो सकते हो तो कोई बात है, पर सांसारिक सुख की चाह अन्दर न हो यह तो हो सकता है। एक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की यही विशेषता होती है कि वह संसार में जीता ज़रूर है लेकिन स्वयं में रमने की कला प्राप्त कर लेता है। सन्त कहते हैं कि संसार में रहो पर सांसारिकता से दूर रहो। पाप करते हुये भी पाप से अलिप्त रहो। सम्यग्दृष्टि की स्थिति तो कीचड़ में रहने वाले कमल की तरह होती है। सांसारिक सुखों के प्रति अनास्था का भाव, मनुष्य को भोगों में रत रहने के बाद भी योग से जोड़ देता है। बन्धुओ, भोगों में रत रहने के बाद भी योगमय जीवन ही जीवन जीने की कला है, जो सम्यक्त्वी के जीवन में सहज प्रकट हो जाती है। हमारा साध्य भोग नहीं है, हमारा साध्य योग है। हमारा ध्येय भोग नहीं है, हमारा ध्येय योग है और हमारा ध्येय पदार्थ नहीं, परमार्थ है। जिस मनुष्य को उस आत्मसुख की लगन लग जाती है, उसे विषयों के सुख विष के समान दिखने लगते हैं। उसमें रस नहीं आता है, वह यह मानता है कि जो पर के निमित्त से होता है उसमें सही आनन्द नहीं है और जो सहज स्फूर्त होता है, उसमें परम आनन्द है।

विकारों की सड़न

दो तरह का पानी होता है - एक पानी जो आप अपने घर के टैंक में भरकर रखते हैं और दूसरा पानी जो अपने मूल स्रोत से जुड़ा होता है, अपने कुओं में होता है। टैंक में भी पानी है और कुयें में भी पानी है। कुये का पानी अपने मूल स्रोत से निकला हुआ है इसलिये उस कुये का पानी कभी सड़ता नहीं है। लेकिन टैंक का पानी जो बाहर से आरोपित है उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। अपने मूलस्रोत से जो प्रकट होता है वह स्वाभाविक होता है। और जो स्वाभाविक होता है वह निर्विकार होता है तथा जो बाहर से आरोपित होता है वह वैभाविक होता है जो वैभाविक होता है, उसमें विकार होता है। सन्त कहते हैं कि सारा सुख पराश्रित

है, इसलिये वह विकृत है। आत्मा का सुख स्वाभाविक है, इसलिये वह निर्विकार है। निर्विकार की आराधना करने वाले व्यक्ति कभी विकृत चित्त नहीं होते हैं।

सुख नहीं सुखाभास

एक तरफ तो अमृत का सागर है और दूसरी ओर खारे जल का सागर है। दोनों में पानी है लेकिन जिसने अमृत के सागर की बूँद का आस्वाद ले लिया है, उसे खारा जल कभी सुहा नहीं सकता। जिसने आत्मसुख का रस पा लिया उसे संसार का बड़े से बड़ा सुख भी नीरस लगने लगता है। इसलिये उसे वह सब चीज़ं असार दिखती हैं। वह कहता है कि इसमें कोई सार नहीं। मैं जिन-जिन चीजों की आज तक कामना करता रहा हूँ, वस्तुतः उसमें सुख है ही नहीं। सुख केवल मेरी मान्यता में था।

विषयों की चाह ज्यों खाज़ का खुजलाना

मैंने चाहा कि सुख मुझे खाने-पीने में मिलेगा, मेरी यह धारणा थी, इसलिये पंचेन्द्रिय के विषयों का भोग करता रहा, लेकिन आज मैं यह महसूस कर रहा हूँ कि न तो आज तक खाने-पीने में सुख मिला और ना ही पंचेन्द्रिय के विषयों का भोग करने से सुख मिला। हकीकत तो यह है कि मैंने जितना विषयभोगों की चाह की, विषयभोगों के प्रति मेरी चाह उतनी ही बढ़ती गई। उसका कभी अन्त नहीं हुआ। मेरी स्थिति तो ऐसी हुई जैसे कोई व्यक्ति खाज़ खुजा-खुजाकरके यह सोचे कि मुझे राहत मिल जाये। खाज़ खुजाते वक्त कुछ पल के लिये राहत ज़रूर मिल जाती है, लेकिन खाज़ की खुजाल से खाज़ आज तक खत्म नहीं हो पाई। उस खाज़ के बाद की पीड़ा और अधिक रूप से सहनी पड़ी है। मैंने जिन-जिन चीज़ों में सुख की कल्पना की, उसका अन्त कुछ ऐसे ही रहा है। केवल अपने अज्ञान से पीड़ित होकर अपने भ्रमपूर्ण विश्वास से प्रेरित होकर मैं उनमें सुख मानकर उनके पीछे भागता रहा हूँ। आज मुझे अहसास हो गया है कि यह सुख का मार्ग नहीं है। यह बाहर से आरोपित है। खाज़ को खुज़ाकर दूर नहीं किया जा सकता है। खाज़ को यदि दूर करना है तो इसका सही उपचार करने की ज़रूरत है। उसमें अच्छे मरहम को लगाने की ज़रूरत हो सकती है। यदि

सही ढंग से मरहम लगा दी जाये तो खाज़ अपने आप ही दूर होगी। ऐसे ही चाह को विषयों की पूर्ति से नष्ट नहीं किया जा सकता है। विषय चाह को दृष्टि और विरक्ति से ही दूर किया जा सकता है। वह मरहम जिस व्यक्ति के हाथ में आ जाती है वह व्यक्ति कभी दुःखी नहीं हो सकता है। वह बीमारी जड़ से खत्म हो जाती है।

आज तक हमारी जो बीमारी है वह चाह की बीमारी है। जो हमारे अन्दर दाह बन रही है, विषयों की चाह हर मनुष्य के अन्दर जन्म-जन्म से बनी हुई है। उस चाह को शान्त करना सम्यक्त्वी का एक लक्षण होता है। वह मानकर चलता है कि उसके पीछे मैं पागल होता रहा हूँ और अपने जीवन का बहुभाग बिता दिया। अब मुझे सावधान होने की ज़रूरत है।

हवा मिठाई, किसने खाई ?

आखिर इसमें है क्या ? यह सब अर्थहीन है। इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। इसलिये उसे समझ में आता है कि ये सब चीज़ें बेकार हैं। इनमें अर्थ नहीं है। आप देखते हो कि छोटे बच्चे होते हैं, वे कई बार बाजार की ऐसी अर्थहीन चीज़ों को खरीदना चाहते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं रहती हैं। लेकिन बच्चे का मन मचल जाता है। आप बच्चे को समझाते हो, बेटे यह सब चीज़ें देखने की होती हैं। एक हवा मिठाई आती है। आजकल आती है या नहीं ? देखने में बहुत अच्छी लगती है। पता है ? गोल-गोल होती है। आपने भी खाई होगी। बचपन में सब खाते थे। हमारा भी बचपन था, मैंने भी खाई है। बड़ी-बड़ी लाल-लाल, मोहक, आकर्षक। बच्चे सोचते हैं कि बहुत कुछ है इसमें, लेकिन मुँह में डालते ही सब हवा हो जाती है। संसार का जो सुख है वह केवल हवा मिठाई की तरह ही है और कुछ नहीं है। जो इस हकीकत को जानते हैं वे कभी उसमें मुग्ध नहीं होते हैं। सन्त कहते हैं - बच्चों की हवा मिठाई के रहस्य को तो तुम जानते हो, पर जो खा रहे हो वह भी हवा मिठाई ही है। इसे पहचान लो तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जायेगा।

उलझो मत, सुलझाओ खुद को

पहचानो, एक ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर होता है। ज्ञानी वस्तु के स्वरूप को जानता है इसलिये व्यर्थ की बातों में मुग्ध नहीं होता और अज्ञानी वस्तु के स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण केवल बातों में ही उलझकर रह जाता है। हम उससे अपने आपको बचाने की कोशिश करें। जो सही है, जो सत्य है और जो सात्त्विक है उसका सत्कार करें। वस्तु का सत्कार करने वाला ही सम्यक्त्वी होता है। व्यर्थ में उलझ जाने वाला अज्ञानी है, मिथ्यात्वी है। अभी तक हम केवल व्यर्थ में उलझे हैं। हमारी सारी शक्ति, हमारी सारी क्षमतायें और हमारे सारे संसाधन उसमें लगे हैं, जो अर्थहीन है। सन्त कहते हैं कि व्यर्थ से हटकर सार्थक का उपयोग करो, तो तुम्हारा जीवन धन्य हो सकता है। अन्यथा ये सब चीज़ें यू ही चली जायेंगी और ज़िन्दगी निरर्थक होकर नष्ट हो जायेगी।

विषयों की तपिश में विरक्ति के छींटे

ज्ञानी जीवन के परम अर्थ को जानता है। जो अर्थवान है उसके ही पीछे लगता है इसलिए उसकी दृष्टि में संसार का सबसे बड़ा सुख भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं दिखता है। वह यही मान करके चलता है कि ऐसा तो मैं कई बार कर चुका हूँ। अनन्त जन्म हो गये मेरे, मैं इन्हीं के चक्कर में लगा हूँ। मैंने खूब पंचेन्द्रिय चीज़ों का विषयभोग किया है। लेकिन भोगों को भोगने के बाद मेरी आज तक भोगैषणा खत्म नहीं हुई। होगी भी कैसे ? ध्यान रखना पंचेन्द्रिय जीवों द्वारा विषयभोगों के माध्य से भोगैषणा को शान्त करने का प्रयत्न तो ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति आग से आग बुझाने की कोशिश करे। क्या आग से आग आज तक कभी बुझी है ? आग को यदि बुझाना चाहते हो तो उसमें आग लगाने की ज़रूरत नहीं। आग को आग से नहीं बुझाया जा सकता। आग को केवल पानी से ही बुझाया जा सकता है। इसलिये विषयों की चाह तुम्हारे अन्तरंग में यदि प्रकट हो रही है तो विषयों की पूर्ति से नहीं अपितु विरक्ति के जल से बुझाने की कोशिश करो।

पीड़ा थोड़ी देर की, सब दिन का आराम

ध्यान रखना, इच्छा पूर्ति इच्छातृप्ति का साधन नहीं है। इच्छाओं का नियन्त्रण करते समय कुछ पल के लिये कष्ट ज़रूर होता है लेकिन यह कुछ पल का कष्ट सारी ज़िन्दगी के आराम का साधन बन जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के भीतर शरीर के किसी अंग में कोई तकलीफ हो और उसे सर्जरी कराना पड़े। सर्जरी कराते समय कष्ट तो ज़रूर होता है। पीड़ा तो भोगना ही पड़ती है। लेकिन इसके बाद जब सर्जरी हो जाती है तो उस पीड़ा से ज़िन्दगी भर के लिये आराम मिल जाता है।

इच्छाओं के नियन्त्रण में कुछ पल का कष्ट ज़रूर होता है। लेकिन उससे चित्त को स्थायी आराम मिलता है। वह तुम्हारे भीतर के कैंसर को खत्म कर डालता है। यदि उसकी उपेक्षा करोगे तो वह बढ़ता ही जायेगा। उसका कोई अन्त नहीं है। इसलिये विषयों से विरक्त सम्यक्त्वी की विशेष पहचान होती है। वह भले ही आकांक्षा से रहित नहीं होता है लेकिन उसके मन में विषयों के प्रति बहुत ज़्यादा लगाव भी नहीं होता है। विषयों के प्रति बहुत ज़्यादा आसक्ति नहीं होती है। वह तो यह मानकर चलता है कि ये सब चीज़ें हेय हैं। संसार के हर सुख को वह अर्थहीन मानता है। उसे लगता है कि संसार में जो संयोग मिले हैं, अच्छे से अच्छे संयोग भी क्यों न हों, लेकिन वे स्थायी नहीं हैं।

पाप-पुण्य के दो ही काम : क्षण में बदली, क्षण में घाम

एक पल में राजा रंक होता है और रंक राजा बन जाता है, तो इस संसार में हम किसकी चाह रखें। ये तो क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाला है। पाप और पुण्य का खेल है। पुण्य की अनुकूलताएँ होती हैं तो संसार में अनुकूलताओं की बरसात होने लगती है। पाप का प्रकोप होता है तो सब हवा में बह जाते हैं। एक पल में खेल बदल जाता है। दुनिया का नामचीन व्यक्ति गुमनामी के अंधेरे में कहाँ खो जाये पता नहीं चलता। जो बहुत ख्यात है उसे कुख्यात होते देर नहीं लगती है, यही तो पुण्य और पाप का खेल है। जो इस पुण्य और पाप के खेल को जान लेता है उसके लिये ये सब अर्थहीन हैं और इनकी चाह करना केवल

अज्ञान का परिणाम है। ज्ञानी तो इसमें रस लेता ही नहीं है। वह क्या कहेगा ? आज है कल बदल जाये, कोई पता नहीं है। बड़ी-बड़ी महान् आत्माओं के सामने भी अनेक प्रकार की स्थितियाँ बनीं। कभी सम्पत्ति आई तो कभी विपत्ति आई। कभी अनुकूलता हुई तो कभी प्रतिकूलता हुई। यह तो ऐसे है जैसे ध्वजा का लहराना। जिधर की हवा आ जाये ध्वजा उधर ही लहरा जाती है। इस जीवन में पुण्य और पाप का जैसा प्रभाव है, हमारा जीवन वैसा ही बन जाता है इसलिये इस पर विश्वास मत करो। पुण्य और पाप ही हमारी आत्मा का स्वभाव नहीं है। हमारी आत्मा तो पुण्य और पाप से परे है। इसलिये कदाचित् पुण्य के योग से कुछ विषयों की सामग्री मिल भी गई है, तो उसमें हर्ष मत मनाओ।

नहीं फँसें झूठे चक्कर में

पुण्य जब अपना फल देता है तो हमसे पाप करवाता है, हमारे जीवन को और बर्बाद करता है। पुण्य का फल भोगते समय जो हमारे मन में रस आता है वह सब पाप बनता है। ध्यान रखना, पुण्य के फल में व्यक्ति पाप की क्रियायें करता है और नये पाप का बन्ध कर लेता हैं। ध्यान रखना, पाप भविष्य में कष्ट देगा सो देगा ही पाप करते वक्त मनुष्य को चैन नहीं मिलता है। आज पाँच इन्द्रियों के विषयों में भी विषयभोग से पापात्मक क्रियायें ही होती हैं, जो सब मनुष्यों को अपने द्वारा अर्जित पुण्य के परिणाम स्वरूप मिलती जरूर है, लेकिन उनका उपयोग यदि मन से करता है तो वह पाप का बन्ध ही करता है। भविष्य के लिये बन्धन और वर्तमान के लिये आकुलता दोनों चीज उसके साथ जुड़ी रहती हैं। जो ज्ञानी जीव होता है वह कहता है कि ये सब तो प्रलोभन है, इस प्रलोभन में मुझे फँसना नहीं है। कभी-कभी कुछ लोग सामान्य व्यक्तियों को प्रलोभन में फँसाकर झाँसा दे देते हैं और उनका सब कुछ हड़प लेते हैं। पुण्य के योग में जो ठाट-बाट दिख रहा है, यह एक ऐसा प्रलोभन है जिसके चक्कर में अज्ञानी फँसता है। वह अपने वैभव को तहस-नहस कर लेता है, लेकिन जो ज्ञानी होता है, इस रहस्य को पहचानता है, वह कभी उनके बहकावे में नहीं आता और वह उनसे दूर हो जाता है। जीवन का क्रम कब कैसा पलट जाये, कहा नहीं जा सकता ?

मत भूलो औकात कभी भी

एक बार ऐसा हुआ कि हवा के तेज वेग से कागज का एक टुकड़ा आसमान में उड़ गया और उड़ करके पर्वत के शिखर पर पहुँचा। पर्वत ने उसका स्वागत किया और कहा - इतने ऊपर तक कैसे आ गये ? कागज ने अकड़ दिखाते हुए कहा - मैं आया हूँ अपने पुरुषार्थ से। पर्वत को बड़ा आश्चर्य हुआ कि तुम और अपने पुरुषार्थ से यहाँ उड़ आये हो ? कागज बोला - हाँ, तुम क्या समझते हो, मैं आसमान तक पहुँच सकता हूँ। तुम्हारी तो एक सीमा है, पर मैं अनन्त आकाश तक जाने की क्षमता रखता हूँ। मेरे पास अपार सामर्थ्य है। पर्वत कुछ जबाव दे इससे पहले हवा का दूसरा झोंका आया और वह कागज वहाँ से उड़कर नीचे गिरा और एक नाली में पड़कर सड़ने लगा।

बन्धुओ, हमारा जीवन भी बस ऐसे ही कागज की तरह है, जब पुण्य की हवा आती है तो शिखर पर चढ़ते हैं और इतराना शुरू कर देते हैं। अभिमान में फूल जाते हैं। और पाप का झोंका आता है तो फिर नरक की नालियों में जाकर के सड़ने लग जाते हैं। यह हमारे जीवन की कहानी है। इससे अपने आपको बचाईये। जो ज्ञानी होता है वह कभी इसमें उलझता नहीं है।

विषयभोग विष मिली मिठाई

पाप पुण्य फल मांहि, हरख विलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै थिर थाई ॥ - छहढाला

यह तो पुद्गल की परिणति है जो उत्पन्न होकर के नष्ट होती है, जो कि स्थिर नहीं, अस्थिर है। आज है, कल रहे या न रहे, इसका कोई भरोसा नहीं, कोई विश्वास नहीं। फिर मैं इसकी चाह कैसे रखूँ ? बता दिया समन्तभद्र स्वामी ने - **कर्मपरवशे सान्ते** पहली बात तो कर्माधीन है और दूसरी बात सान्त है, अर्थात् अन्त से सहित है। **दुःखैरन्तरितोदये** और दुःखों से मिश्रित है। जैसे कोई व्यक्ति विष मिली हुई मिठाई खाये तो क्या होगा ? खाते समय तो अच्छी लगेगी। मिठाई में अगर जहर मिला हो तो देखने में तो कुछ पता नहीं लगता

है, खाने के बाद समझ में आता है। ऐसे ही ये सांसारिक विषय हैं, जो विष मिश्रित मिष्ठान्न की तरह हैं। खाते समय अच्छे ज़रूर लगते हैं। लेकिन खाने के बाद हजम करना संभव नहीं होता है। ध्यान रखना, दुनिया में जिन्होंने विषयों का आश्रय लिया वे विषय-भोग के समय उनको मोहक लगते हैं, पर अन्ततः वे पीड़ादायी ही होते हैं। जिसमें कण भर सुख और मन भर दुःख होता है।

दृष्टि जब विकसित हो जाये

आचार्य कहते हैं कि -

खणमित्त सुक्खा बहुकालदुक्खा, पगाम सुक्खा अणिगाम दुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणि अणत्थाण उ कामभोया ॥

एक क्षण का सुख और बहुत काल का दुःख। दुःख का कोई पैमाना नहीं। यह संसार की मुक्ति के विपक्षी हैं और सारे अनर्थों की खान हैं, इसलिये काम-भोग को दूर से ही तिरस्कार कर दो। उसे दूर ही कर देना चाहिये। ये दृष्टि केवल सम्यग्दृष्टि में ही विकसित होती है। बन्धुओ, ज्ञानी और अज्ञानी में बहुत अन्तर होता है इसलिये वह इन सब चीजों को, ये पाप की चीज़ें हैं, ऐसा जानकर उनके प्रति अनास्था का भाव रखता है उनसे दूर होने का मन रखता है। भले ही दूर न हो सके। लेकिन वह कहता है कि ये मेरे लिये हानिकारक है। दृष्टि तो बना लो। दो तरह की दृष्टि हैं - एक वह व्यक्ति जो पंचेन्द्रिय के विषयों को उपादेय मान करके चल रहा है और रात-दिन उसी के पीछे लगा है। जिसका साध्य केवल पंचेन्द्रियों के विषयों में लगा है और दूसरा वह व्यक्ति है, जो पंचेन्द्रिय के विषयों को छोड़ भले न पा रहा हो, लेकिन यह जान रहा है कि यह सब मेरे लिये ज़हर से भी ज़्यादा खतरनाक हैं। मेरे लिये उपादेय नहीं हैं। ये मेरे लिये हेय हैं। प्रथम भूमिका में आत्मा में ऐसी दृढ़ धारणा बन जाये तो समझ लेना कि तुम्हारे भीतर सम्यक्त्व की भूमिका तैयार हो गई।

आकुलता से मुक्त, ज़िन्दगी उन्मुक्त

ऐसी धारणा बना लेना सम्यक्त्वी की पहचान है। वह यह मानता है कि ये सब चीज़ें मेरे लिये उपादेय नहीं हैं। ये सब चीज़ें मेरे लिये आलम्बनीय नहीं

हैं। इसे मुझे छोड़ना है। ये शत्रु हैं। इनसे जो मेरी हानि होगी वह बड़े से बड़े शत्रु से भी नहीं हो सकती है इसलिये उन्हें हमें दूर से ही छोड़ने की ज़रूरत है। ऐसी दृष्टि अपने अन्दर विकसित कर लेने वाले व्यक्ति सांसारिक विषयों में रहने के बाद भी उनमें रचते-पचते नहीं हैं। वे उनसे अनासक्त रहते हैं। ध्यान रखना, अनासक्ति और अलिप्तता यही जैन अध्यात्म की रीढ़ है। अगर कुछ कर रहे तो ऐसा करो जैसे कि नहीं कर रहे हो, करना पड़ रहा है। तब बन्धन से बच पाओगे। एक सम्यक्त्वी की आकुलता इसी से कम होती है। मैंने आपसे कहा था कि आप आकांक्षातीत नहीं रह सकते हैं, लेकिन आकुलता मुक्त ज़रूर रह सकते हैं। आप चाह मुक्त नहीं हो सकते लेकिन हाय-हाय से बच सकते हैं। यह दृष्टि जब तुम्हारे अन्दर विकसित हो जायेगी, तब तुम्हारी आकुलता खत्म हो जायेगी और जब आकुलता और हाय-हाय खत्म हो जायेगी तो तुम्हारी ज़िन्दगी आनन्द की यात्रा बन जायेगी। जीवन को आनन्द की यात्रा बनाओ।

मज़बूती की मंज़ूरी

सम्यक्त्वमूलक जीवन जीने का मतलब यही है कि अपने जीवन को आनन्द की यात्रा बनायें। आखिर जीवन में किस तरह कामयाबी हासिल की जा सकती है ? यह दृष्टि जिस मनुष्य के अन्दर विकसित होती है तो उसका जीवन धन्य हो जाता है। एक ज्ञानी भी विषयों का आश्रय लेता है और अज्ञानी भी विषयों का आश्रय लेता है, लेकिन दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अज्ञानी उन्हें ही उपादेय बुद्धि से स्वीकार करके उनमें एकदम लीन हो जाता है और ज्ञानी केवल मज़बूरी में स्वीकारता है। स्वीकारता है लेकिन तटस्थ भाव से। तटस्थता/निष्काम योग पर ही हमारे सम्यक्त्व की पहचान है। सब कुछ करने के बाद भी उससे बिल्कुल अलग होना। देखने में लग रहा है कि आदमी एकदम सामान्य आदमी की तरह जी रहा है, लेकिन उसके भीतर से उसका कोई जुड़ाव नहीं है। आपने देखा किसी आदमी से अगर डण्डे के बल पर काम करवाया जाये और सामने वाले की ताकत देखकर, वह कहे भैया क्या करूँ ? मुझे करना पड़ रहा है, तो वह करते हुए भी नहीं करता है। ऐसा होता है। इसलिये जो सम्यक्त्वी ज्ञानी आत्मा है। विषयों से दूर रहने का मन रखता है और किंचित् विषयों में

प्रवृत्त भी होता है तो ऐसे जैसे कि बहुत मजबूरी में हो रहा हो कोई ज़बरदस्ती उससे काम करवा रहा हो। कोई कर्म के डण्डे के कारण ऐसा कर रहा है। कर्म के तीव्रोदय के कारण निमित्त से उसकी प्रवृत्ति हो जाती है लेकिन वह अन्दर से अप्रवृत्त रहता है।

द्रष्टा बनने की दृष्टि

तटस्थ हो जाना इसका मतलब क्या है ? आपने देखा कि नदी बहती हो, तो नदी की धार बहती है, तट जहाँ के तहाँ खड़े रहते हैं। संत कहते हैं कि तटस्थ होकर के जिओ। संसार की धार को बहने दो, पर तुम उसके साथ मत बहो। तुम जहाँ हो वहाँ ही रहो। केवल द्रष्टा बने रहो यही तटस्थता है। ऐसी दृष्टि सम्यग्दृष्टि में होती है। अपने अन्तरंग में ऐसी दृष्टि विकसित करने की कला हमें जागृत करने की आवश्यकता है और यदि ऐसी दृष्टि जागृत हो गई तो हमारा जीवन धन्य हो जायेगा। एक ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि ज्ञानी भी वही काम करता है और अज्ञानी भी वही काम करता है, लेकिन ज्ञानी अपने ज्ञान के प्रताप से बन्धन मुक्त हो जाता है और अज्ञानी अपने अज्ञान के अभिशाप से बन्धन में फँस जाता है। वे बहुत सुन्दर उदाहरण देते हैं -

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥ २१८ ॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥ २१९ ॥

यदि आप कीचड़ में सोने को डालो और दस साल के बाद भी निकालो तो सोना ज्यों का त्यों ही रहेगा। लेकिन यदि उसी कीचड़ में लोहे को डाला जाये तो लोहा जंग खा जायेगा। अज्ञानी लोहे की तरह होता है। जो संसार के कीचड़ में फँस जाता है और कर्मबन्ध की जंग खा जाता है। ज्ञानी सोने की तरह होता है। वह विषयों की कीचड़ में रहने के बाद भी उससे अलिप्त होने के कारण निर्बन्ध

रहता है। संत कहते हैं - ज्ञानी बनो, अज्ञानी नहीं। अज्ञानी की तरह तुमने खूब जी लिया, अब ज्ञानी बनने का प्रयत्न करो। वह दृष्टि तुम्हारे भीतर विकसित हो।

काम वही, रस अलग-अलग है

संसार में दौड़ मची है। काम वही कर रहे हैं। ज्ञानी भी वही कार्य कर रहा है और अज्ञानी भी वही काम कर रहा है, लेकिन एक है जो आनन्द का उपभोग कर रहा है और दूसरा आकुलता से परेशान हो रहा है। आनन्द और आकुलता दोनों हमारी परिणतियाँ हैं। बन्धुओ, संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं। एक विषभोजी, दूसरा अमृतभोजी। विषभोजी विष खाकर मरता है और अमृतभोजी अमृत का आस्वादन कर आनन्द लेता है। दोनों की अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं। हम विष का भोजन कर रहे हैं। वह यहाँ अमृत का भोजन कर रहे हैं। धन्य हैं वे ज्ञानी जो अपनी आत्मा के अन्दर का रसपान करते हैं और दुर्भाग्य है उन अज्ञानियों का जो विषयों के विष में ही लीन रह रहे हैं और अपने जीवन को विषत्व मय करते जा रहे हैं। जन्म-जन्मान्तरों से हमने विष का भक्षण किया है और हमारा जीवन विषाक्त हुआ है। हमारी चेतना विकृत हुई है। हमारी आत्मा को अनन्त कष्ट भोगने पड़े। यही ज्ञानी की पहचान होती है कि वह विषयों के विष में रह करके भी आत्मा के अमृत का रसपान करता है। जन्म तो विषयों के बीच में लिया है। विषयों के बीच में ही रह रहा है, लेकिन आत्मा के अमृत का रसपान कर रहा है। उसे सब अर्थहीन लग रहे हैं। ये सब चीज़ें बेकाम की हैं और किसी भी काम की नहीं हैं। कहा है कि विषयों के मध्य रहकर भी आत्मा का आस्वादन लिया जा सकता है, यदि हमारे अन्दर ज्ञानमूलकदृष्टि है तो।

व्याख्या सपने की कुछ ऐसी

एक बार ऐसा हुआ, अकबर को मन में मज़ाक सूझा। उसने बीरबल से कहा कि मैंने रात में एक विचित्र सपना देखा है। बीरबल बोला - क्या देखा ? मैंने यह देखा है कि हम दोनों एक जंगल में जा रहे थे। दोनों अचानक अलग-अलग गड्ढे में जा गिरे। मैं तो अमृत के कुण्ड में जा गिरा और तुम मल के गड्ढे में जा गिरे। सभी सभासद हँस पड़े। बीरबल से खार खाये जितने भी दरबारी

गण थे वे और ज्यादा फूल गये, कि अच्छा हुआ आज बीरबल का पानी उतर गया। लेकिन बीरबल कम थोड़े ही था। उसने नहले पर दहला ठोंका और कहा - हुजूर, मैंने भी एक ऐसा ही सपना देखा। पर मेरी नींद थोड़ी देर बाद खुली। बात ऐसी है कि हम अलग-अलग गड्ढे में गिरे यह बात तो ठीक है, लेकिन जब हम दोनों को बाहर निकाला गया तो मैंने देखा कि आप मुझे चॉट रहे हैं और मैं आपको चॉट रहा हूँ।

जिस व्यक्ति के पास दृष्टि है वह मल के गड्ढे में गिरने के बाद भी अमृत का स्वाद लेगा। यही ज्ञानी की स्थिति है। जो विषयों के गड्ढे में रहकर भी आत्मा का आनन्द भोगता है और अज्ञानी आत्मानन्द का स्वामी होने के बाद भी विषयों के विष में ही मुग्ध बना रहता है। ऐसी दृष्टि अपने अन्दर विकसित कीजिये।

हंसा मोती चुगता है

सारा खेल अपनी दृष्टि का है। यदि एक बार दृष्टि परिवर्तित हो जाती है, तो सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। अगर दृष्टि अपरिवर्तित है तो कुछ भी परिवर्तित नहीं हो सकता। इसलिये अपनी दृष्टि को बदलिये। अपनी मान्यता को पक्का बना लीजिये। मानसरोवर में हंस भी तैरता है और बगुला भी तैरता है। दोनों का रंग धवल होता है। दोनों दिखते भी एक जैसे ही हैं। आकृति में अन्तर है। दोनों अगर मानसरोवर में तैरते हैं तो हंस केवल मोती चुगता है और बगुला की दृष्टि केवल मछली पर टिकी रहती है।

बन्धुओ, यही स्थिति होती है ज्ञानी और अज्ञानी की। संसार के मानसरोवर में ज्ञानी हंस की तरह तैरता है और केवल आत्मा के मोती चुगता है और अज्ञानी इस संसार के मानसरोवर में विषयों की मछली पकड़कर के दुःख पाता रहता है। क्योंकि उसकी दृष्टि बगुले की भाँति होती है। ज्ञानी की दृष्टि हंस के समान होती है। हंस जैसी स्थिति अपनी बनाइये।

करें विवेक नीर-क्षीर का

हंस कब बनेंगे ? जब हमारे अन्दर विवेक हो। हंस को विवेक का प्रतीक माना गया है। क्योंकि हंस की चोंच में एक ऐसी विशेष शक्ति होती है, ऐसा

रासायनिक स्राव होता है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। नीर और क्षीर का विवेक कर डालता है। इसी प्रकार ज्ञानी होता है, जो सार और असार की पहचान करता है। जो अपने और पराये का हेय और उपादेय का ज्ञान रखता है, वही ज्ञानी है। ज्ञान से सम्पन्न दृष्टि के कारण वह विषयों के मध्य रहकर भी उससे अलिप्त रहता है। वह विरक्तचित्तता उसके जीवन की स्वायत्तता का आधार बन जाती है।

जोंक दूध नहीं, खून पीती है

इसलिये कहते हैं कि कदाचित् विषयों में रमना भी पड़े तो उनमें रमें नहीं, दूर रहें। लेकिन क्या करें ? संसार के अधिसंख्य प्राणियों की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई है। आचार्यों ने बहुत अच्छा उदाहरण दिया है कि जैसे जोंक गाय के थन के पास चिपकी होती हैं, लेकिन दुर्भाग्य उसका कि गाय के थन के पास चिपकी रहने के बाद भी वह गाय के दूध का आस्वादन लेने की जगह खून ही पीती है। अगर उसके पास बुद्धि होती तो वह गाय का अमृतोपम दूध पी सकती थी, लेकिन वह सड़ा हुआ खून पी-पीकर अपनी ज़िन्दगी से हाथ धोने को मजबूर हो जाती है। सन्त कहते हैं कि यही स्थिति उस अज्ञानी प्राणी की है जो अपने आत्मानन्द का अमृतोपम दूध पीने की जगह विषयों का सड़ा-गला खून पीता रहता है। उससे ही चिपका रहता है। उस दृष्टि से अपने आपको बचाओ, उससे अपने आपको मुक्त करने की कोशिश करो। एक बार ऐसी दृष्टि तुम्हारे अन्तरंग में विकसित हो गई तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जावेगा।

पहले चरण उठे श्रद्धा का

बन्धुओ, दो प्रकार की परिणतियाँ होती हैं - एक श्रद्धा की परिणति और दूसरी आचरण की परिणति। पहले चरण में कम से कम अपनी श्रद्धा तो इतनी मजबूत बना लो कि यह विषय सुख हमारे लिये उपादेय नहीं है। संसार के साधन हमारे लिये आलम्बनीय नहीं हैं। हेय हैं। मेरे लिये यदि कोई उपादेय है, मेरे लिये कोई आलम्बनीय है तो केवल मेरे भीतर का तत्त्व है। उस तत्त्व को जब तक मैं अपना नहीं लेता तब तक मेरा जीवन निहाल नहीं हो सकता। इसलिये उस

तत्त्व को अपनाने की अपनी दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये। वह दृष्टि हमारे भीतर जैसे-जैसे विकसित होगी, वैसे-वैसे हमारा जीवन धन्य हो जायेगा। हम उस दृष्टि को विकसित करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहें, यही सम्यग्दृष्टि की पहचान होती है। इसी कारण वह सबके बीच रहकर भी सबसे पृथक् अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाता है। विषयों के बीच रहता ज़रूर है, पर विषयों में रमता नहीं है। भगवान महावीर कहते हैं कि संसार में रहो और स्वयं में रमो, यह पहचान है निःकांक्षितपने की। सबसे अलिप्त पहचान बना करके रखो कि ये सब चीज़ें मेरे स्वभाव में नहीं हैं। ये मेरी आत्मा से भिन्न हैं, ये मेरी आत्मा से पृथक् हैं। यह तभी हो सकता है जब विषयों के प्रति उदासीनता का भाव हो।

मैं बाधित हूँ करने को

एक व्यक्ति पाप करता है बेखौफ होकर और एक व्यक्ति पाप करता है थोड़ा भयभीत होकर। दोनों के पाप के बन्धन में थोड़ा अन्तर होता है। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम विषयों को छोड़ भी नहीं सकते हो तो कोई बात नहीं है। विषयों का चाव मत रखो। विषयों का चाव तुम्हारे अन्दर न हो तो तुम्हारा बचाव हो जायेगा। उतना भी हो जाये तो बहुत अच्छा है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥ १९६ ॥ समयसार

जैसे एक व्यक्ति दवाई के रूप में शराब पीता है या कोई अन्य मादक पदार्थ लेता है, लेकिन वह उसके नशे के लिये नहीं ले रहा है, तो उसके ऊपर उसका नशा नहीं चढ़ता है। थोड़ी मात्रा में केवल दवाई के रूप में ले रहा है। इसी तरह जो कर्म का भोग करते वक्त अन्दर से विरक्त रहता है उसके ऊपर कर्म का बन्धन प्रगाढ़ नहीं होता है। कर्म के बन्धन से आप बचना चाहते हो ? कर्म बन्धन की प्रगाढ़ता से आप बचना चाहते हो ? अपने अन्तर्मन की आकुलता से बचना चाहते हो तो उसका एक ही सूत्र है विषयों में ज्यादा रुचि मत रखो। अरुचिपूर्वक करो। देखिये दवाई भी खाते हैं आप और मिठाई भी खाते हैं। दोनों को एक ही मानसिकता से खाते हैं क्या ? मिठाई चाव से खाते हैं और दवाई

बचाव में खाते हैं। इसके बिना चारा नहीं है। है कोई ऐसा व्यक्ति इस सभा में जो कहे कि महाराज ऐसा आशीर्वाद दो कि ज़िन्दगी भर मुझे दवाई खाने को मिलें। एक भी व्यक्ति नहीं होगा। ऐसे व्यक्ति ज़रूर हैं जो रोज़ ये भाव रखते हैं कि रोज़ मेरे भोजन की शुरूआत मिठाई से ज़रूर हो। यही अन्तर है ज्ञानी और अज्ञानी में। ज्ञानी अगर विषयों का सेवन करता भी है तो ऐसे, जैसे उसे दवाई खानी पड़ रही है और अज्ञानी जो करता है वह मिठाई की तरह करता है। एक में चाव है और एक में बचाव है। विषयों का चाव है तो तुम्हारी ज़िन्दगी बर्बाद है और विषयों के प्रति लगाव का भाव नहीं है तो तुम्हारी जीवन के प्रति सुरक्षा है। पाप और पापात्मक क्रियाओं को करने की जब कभी भी नौबत आये तो इस भाव से करो, जैसे करना पड़ रही हैं। कर नहीं रहा हूँ।

भावों का तादात्म्य क्रिया संग

आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र दिया है - **तीव्रमन्द-ज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।** कोई अच्छा और बुरा भाव हम करते हैं, उसके प्रति हमारे मन में जितनी अधिक तीव्रता और मन्दता होती है उससे बँधने वाले कर्म उतने ही तीव्र और मन्द होते हैं। हम पूर्ण उत्साह के साथ यदि कोई कार्य करते हैं तो बँधने वाले कर्म उतने ही प्रगाढ़ होते हैं और यदि मन्द उत्साह के साथ करते हैं तो कर्म भी मन्द होता है। सन्त कहते हैं - अच्छा कार्य करना है तो पूरे उत्साह से करो और अगर बुरा कार्य करना हो तो उसे ऐसे करो जैसे करना पड़ रहा है। लेकिन आप लोग उल्टा करते हो। अच्छा कार्य तो मन मारकर करते हो और बुरा कार्य पूरा मन लगाकर करते हो। ज्ञानी की यही स्थिति होती है। वह संसार के जितने भी कार्य करता है, उन्हें मन मारकर करता है। करता नहीं है, करना पड़ता है। बस आपसे मैं इतना ही कहता हूँ कि आप जो कुछ भी करो, करो मत, बस करना पड़ रहा है, यह भाव रक्खो। बुरे कार्य करो मत, भले ही करना पड़ें। और अच्छे कार्य करना न पड़ें, करो। जीवन में बहुत कुछ उपलब्धि घटित हो जायेगी। परमानन्द की अनुभूति आपको होगी। वहीं से आपके जीवन का मंगलाचरण शुरू हो जायेगा। आप अपने आपको

उस अनुरूप ढालने की कोशिश करो, लेकिन यह सब जब तक हमारे अन्दर की दृष्टि विकसित नहीं होती तब तक काम नहीं बनता है।

ऊर्ध्वमुखी चेतना : उत्थान की यात्रा

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अलग प्रकार की होती है। उसकी चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है और मिथ्यादृष्टि की जो चेतना होती है, वह अधोमुखी होती है। जिसकी चेतना अधोमुखी होती है, उसका पतन होता है। जिसकी चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है, उसका उत्थान होता है। हम दोनों चरणों को देखते हैं। सांसारिक क्रियाओं को यदि हम ऊर्ध्वमुखी चेतना के साथ सम्पादित करें तो हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होगा और अधोमुखी चेतना के साथ उनमें संलिप्त हो जायें तो हमारा बिगाड़ हुये बिना नहीं रहेगा। एक वनस्पति आती है अपामार्ग, जिसका दूसरा नाम है ओंधाकाँटा। ओंधाकाँटा एक ऐसी वनस्पति होती है, जिसके काँटे ऊपर की ओर निकले हुये होते हैं। नीचे से लेकर ऊपर तक काँटे ही काँटे बने रहते हैं। अब अगर उस वनस्पति को छुयें और हाथ को ऊपर से नीचे लाये तो पूरा हाथ छिल जायेगा लेकिन अगर उसी वनस्पति को कोई नीचे से ऊपर की ओर हाथ ले जाये तो कुछ भी नहीं होगा। सन्त कहते हैं - ध्यान रखना, ये संसार के जितने भी संयोग हैं, वे किसी अपामार्ग या ओंधाकाँटे की तरह हैं, यदि ऊपर से नीचे की ओर आओगे तो तुम्हारा हाथ छिले बगैर नहीं रहेगा और नीचे से ऊपर की ओर जाओगे तो तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं होगा। ऊर्ध्वमुखी दृष्टि के स्वामी बनिये। यही सम्यक्त्वी की पहचान होती है।

विरक्ति पूर्ण अनुरक्ति

उसके लिए कहते हैं -

रे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्दर से न्यारा रहे, धाय खिलावे बाल ॥

क्रियायें वही कर रहा है, जो एक अज्ञानी कर रहा है। लेकिन भीतर के अभिप्राय में अन्तर है। ध्यान रखना कि क्रिया का परिणाम नहीं है, परिणाम तो

अभिप्राय का है। दो व्यक्ति काम कर रहे हैं, एक ही काम कर रहे हैं, लेकिन एक अन्दर से विरक्त होकर काम कर रहा है और दूसरा अन्दर से अनुरक्त होकर काम कर रहा है। जो अनुरक्त होकर काम करेगा वह बन्धन में बँधेगा, जो विरक्त होकर काम करेगा वह निर्बन्ध रहेगा। निर्बन्ध होकर जीना चाहते हो तो अपने आपको विरक्त करो। जैसे धाय बच्चे को खिलाती है, पालती-पोसती है। धाय का काम बच्चे का लालन-पालन करना होता है। धाय के ऊपर जिस बच्चे को पालने-पोसने का दायित्व होता है उसे पूरे मन से पालती-पोसती है। अपना दूध भी पिलाती है, खिलाती है, नहलाती है, सुलाती है, धुलाती है और कई बार तो उस बच्चे को भी यह भ्रम हो जाता है कि यह ही मेरी असली माँ हैं। लेकिन इसके बाद भी वह धाय जानती है कि कौन मेरा असली बेटा है। वह जानती है कि यह बेटा मेरा बेटा नहीं है। मैं तो सिर्फ पालन-पोषण कर रही हूँ। क्योंकि उसको पालना मेरा कर्त्तव्य है। पर बेटा मेरा नहीं है। यही तो अन्तर है एक ज्ञानी और अज्ञानी में।

दु:ख मिलता मालिक बनने में

ज्ञानी संसार में रहता ज़रूर है पर कर्तृत्व की भावना से मुक्त होकर रहता है और अज्ञानी कर्ताबुद्धि बनाकर रहता है। एक संसार में मालिक की तरह जीता है और दूसरा मेहमान की तरह होता है। जो संसार का मालिक बनने की कोशिश करता है उसे फटेहाल रह जाना पड़ता है और जो मेहमान की तरह संसार में रहता है वह मालामाल बना रहता है। क्योंकि मेहमान की सदैव खातिर ही होती है। आपके घर में कोई दूसरा व्यक्ति घुस जाये और मालकियत का दावा ठोके तो आप उसे पीट-पीटकर घर से बाहर निकाल देंगे, लेकिन आपके घर में यदि कोई मेहमान आये तो जाते वक्त भी आप उसे टीका करोगे। मालिक मत बनो, मेहमान की भाँति रहो। यही ज्ञानी की पहचान है, मालामाल बने रहोगे और यदि मालकियत ठोकोगे तो तुम्हारी ख़ैरियत नहीं है।

कभी न भागें दायित्वों से

मालकियत से अपने आपको बचाइये। सब कुछ करिये पर उससे अलिप्त रहिये। ठीक है मैं रह रहा हूँ, पर इसका कर्ता और स्वामी मैं नहीं हूँ। घर-परिवार

चला रहा हूँ तो चलाने में निमित्त मात्र हूँ। इसे भी पूर्ण कुशलता से चलाना है ताकि किसी को कभी कोई कष्ट न हो, क्योंकि परिवार का भरण-पोषण करना मेरा दायित्व है। संतान का भविष्य बनाना मेरी ज़िम्मेदारी है। कुछ भी कार्य करना है तो कर्त्तव्य की भावना से करना है। जो भी कर रहा हूँ, उसमें सोच यही हो कि यह कार्य मुझसे हो रहा है। मैं तो केवल निमित्त हूँ। यह दृष्टि यदि अन्दर से व्यक्त हो जाती है तो उसे संसार से विरक्त कर डालती है। लेकिन अज्ञानी तो कहता है कि जो कुछ कर रहा हूँ सो मैं कर रहा हूँ और मेरे बिना तो होगा ही नहीं। बस यहीं से अहं की पुष्टि प्रारम्भ होती है और जहाँ से अहं की पुष्टि होती है वहीं से पतन होना प्रारम्भ होता है। उस अहं का अन्त करने की कोशिश कीजिये।

मेरा शेयर बहुत थोड़ा है

ध्यान रखो कि हम अगर अहं का अन्त करते हैं तो जीवन में एक अलग ही अनुभूति का आनन्द प्राप्त करते हैं, पर ऐसा सम्यक्त्व की दृष्टि विकसित होने पर ही संभव है। हम अपनी दृष्टि ऐसी विकसित करने की कोशिश करें कि 'धाय खिलावे बाल।' चाहे आप संसार का कोई भी कार्य करो पर अन्दर से विरक्त रहो। यह मानकर चलो कि संसार की व्यवस्था में मेरी भूमिका बहुत छोटी सी है। मैं संसार की किसी भी व्यवस्था का जनक नहीं हूँ। उसका घटक मात्र हूँ। व्यवस्था का एक छोटा-सा हिस्सा मात्र हूँ। हिस्सा बस हिस्सा होता है। बहुत सारे लोगों के बीच मेरा उतना ही शेयर है। जिसके मन में ऐसी भावना होती है वह कभी भी संसार में उलझता नहीं है। हमारी दृष्टि अगर वैसी बन जाये तो हमारा जीवन निहाल हो जाये और ऐसा व्यक्ति फिर कभी हाय-हाय नहीं करता है, आकुलता नहीं करता है। उसके जीवन की चर्या ही कुछ अलग हो जाती है। एक धर्मात्मा व्यक्ति को अपने संसार के कार्य किस तरीके से करना चाहिये ? मैं समझता हूँ कि इस एक उदाहरण से आप बहुत अच्छे-से समझ सकते हैं।

देनहार कोऊ और है

एक नगर सेठ किसी सन्त के पास तत्त्वोपदेश के लिये पहुँचा। सन्त बहुत पहुँचे हुये थे। उन्होंने कहा कि मैं तुम्हें क्या उपदेश दूँ ? इस नगर के सेठ हैं,

शान्तिस्वरूप, तुम उनके पास जाओ, तुम्हें अच्छा तत्त्वोपदेश मिल जायेगा। वह शान्तिस्वरूप जी के यहाँ गया और अपना परिचय दिया। देखता क्या है कि बहुत बड़ा कारोबार है, सैंकड़ों मुनीम काम कर रहे हैं और सेठ जी अपने काम में लगे हुये हैं। उसने जैसे ही परिचय दिया सेठ जी ने उनका स्वागत किया और अपने हेड मुनीम को बुलाकर कहा कि मुनीम साहब आज से ये हमारे मेहमान हैं। जब तक ये यहाँ रहें, इनकी पूर्ण व्यवस्था आपको करना है। किसी भी चीज़ की कमी न पड़े। और सेठ जी अपने काम में लग गये। उस व्यक्ति ने सोचा कि अपना काम करने के बाद कोई शास्त्र प्रवचन इनके यहाँ होता होगा, तो मुझे कुछ उपदेश मिलेगा। शाम होने के बाद भी सेठ जी अपनी नियमित चर्या में व्यस्त रहे। कोई धर्मोपदेश नहीं। पूरा दिन, पूरी रात बीत गई। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, व्यतीत हो गये पर सेठ जी तो नोट छापने में ऐसे व्यस्त थे कि कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था। उसे लगा कि यहाँ तो मेरा समय बर्बाद जा रहा है। आज तो मुझे वापस चले जाना चाहिये। मन बनाकर बैठा ही था कि अचानक सेठ जी के पास उनका हेड मुनीम आया और घबड़ाते हुये सेठ जी से बोला कि सेठ साहब बड़ा अनर्थ हो गया। तब सेठ जी ने कहा - क्या हो गया ? इतने अधीर क्यों हो रहो हो ? बताओ तो सही। तब मुनीम ने कहा - अभी-अभी समाचार आया है कि अपना एक जहाज समुद्रमार्ग से आने वाला था लेकिन समुद्री तूफान आने से वह जहाज डूब गया। उसमें दस करोड़ का माल था। सबका सब माल डूब गया। सेठ जी ने सुना तो कोई फर्क नहीं पड़ा। चेहरे पर हल्की सी शिकन भी नहीं आई। जैसे कुछ हुआ ही नहीं। दस रूपया भी नहीं गया हो, दस करोड़ की बात तो दूर। बोले - ठीक है, ऐसा होता है। विधाता की मर्ज़ी है। जाओ अपना काम करो। अब की बार उस व्यक्ति को लगा कि ज़रूर इस सेठ में कुछ विलक्षणता है। दस करोड़ का नुकसान हुआ और यह आदमी ऐसे कह रहा है कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं। कुछ रुकना चाहिये और रुक गया।

तीन दिन बाद वही मुनीम फिर से आया और अब की बार उसके चेहरे में अभूतपूर्व चमक थी। फूला नहीं समा रहा था। प्रफुल्लित मन से आया और कहा - सेठ जी, मैं महान् भाग्यशाली हूँ। आप जैसे पुण्यात्मा की सेवा करने का सौभाग्य मिल रहा है। आप जैसे पुण्यात्माओं के ऊपर आखिर आपत्ति-विपत्ति

आ कैसे सकती है ? आप धन्य हो और आपकी सेवा करके मैं भी कृतार्थ हूँ । सेठ जी ने कहा - भूमिका मत बनाओ, सीधे-सीधे बात बताओ कि आखिर क्या बात है ? वह बोला - क्या बताऊँ, सेठ जी बड़ी प्रसन्नता हो रही है मुझे आज । उस दिन जो मैंने आपको दु:खद समाचार दिया था, तभी मेरी जीभ क्यों न कट गयी । तब सेठ जी ने कहा कि आखिर हुआ क्या है ? तब उस मुनीम ने कहा - तकनीकी ख़ामी की वजह से अपना जहाज दो दिन बाद निकला था और वह आज बन्दरगाह पर सकुशल पहुँच गया है । अपना माल पूर्णत: सुरक्षित है और बाजार में तेजी आने के कारण अपने को पन्द्रह करोड़ का अधिक लाभ हुआ है । सेठ जी ने सुना तो अब की बार भी कोई खास प्रतिक्रिया नहीं दी । बस इतना ही कहा कि ठीक है, ऐसा होता है, सब विधाता की मर्जी है । जाओ अपना काम करो । अब की बार उस व्यक्ति से रहा नहीं गया । उस आगन्तुक ने कहा - धन्य हो सेठ जी, मैं क्या देख रहा हूं ? उस दिन दस करोड़ के नुकसान का समाचार आया तब भी आपको फर्क नहीं पड़ा और आज पन्द्रह करोड़ के फायदे का समाचार आया तब भी आपको फर्क नहीं पड़ा । अरे कम से कम समाचार देने वाले की पीठ तो थपथपा देते । आपने तो उसको कुछ भी नहीं बोला । मामला क्या है ? सेठ जी ने जो बात कही वह आप सबको ध्यान देने योग्य है। सेठ जी ने कहा - यह बताइये कि कोई व्यक्ति अपने बैंक के एकाउंट से रूपया निकाले और उसे दूसरी ब्राँच में जमा करे तो एकाउँटेन्ट को कोई तकलीफ होगी ? बस यही है मेरे जीवन का रहस्य । आपको दिखाई पड़ता है कि यह कारोबार मेरा है । यही मानकर आप चल रहे हैं कि इस कारोबार का मालिक मैं हूँ, पर यह आपका भ्रम है । मैं कभी भी अपने को इसका मालिक नहीं मानता हूँ । हकीकत में इसका मालिक नहीं हूँ । मैं तो केवल एकाउँटेंट हूँ । मालिक तो विधाता है वह जो चाहता है वही मैं कर रहा हूँ । कभी वह इस ब्राँच में रखता है तो कभी वह उस ब्राँच में रखता है । जब वह इस ब्राँच में रखता है तो जमा कर देता हूँ और जब उस ब्राँच में करता है तो नाम कर लेता हूँ । लाभ होता है तो जमा की ब्राँच में डाल देता हूँ और हानि होती है तो नाम चढ़ा लेता हूँ । मैं क्यों रोऊ ? जाने तो मालिक जाने । मैं तो एक एकाउँटेंट हूँ ।

मालिक नहीं, मुनीम बनें

इसीलिये कहता हूँ कि एकाउँटेंट बने रहिये, मालिक बनने की कोशिश मत कीजिये । एकाउँटेंट का काम है पूरी ज़िम्मेदारी से काम करे और पूर्ण डयूटी करे । शेष सब विधाता की मर्जी है । कर्मों का खेल है । कर्म चाहेगा तो लाभ होगा और नहीं चाहेगा तो हानि होती है । जब ऐसी दृष्टि आपकी बन जायेगी तो लाभ और अलाभ में, संयोग और वियोग में, प्रशंसा और निन्दा में आपकी समता बनी रहेगी । फिर विषयों की रुचि भी जायेगी और जीवन की पीड़ा भी खत्म हो जायेगी । यही जीवन की शान्ति का मार्ग है, लेकिन क्या करें ? आजकल लोगों को लाभ और नुकसान में समभाव करने की तो बात ही नहीं रही । अच्छा लाभ हो जाये तो उसको भी नहीं झेल पाते हैं । पर्याप्त लाभ होने के बाद भी लोगों को चैन नहीं पड़ती है । ऐसे लोग भी मेरे सामने आये हैं ।

कैसा-कैसा अंकगणित ?

एक बार एक पति-पत्नी मेरे पास आये, पति कुछ उदास था । मैंने पूछा - क्यों क्या बात है ? उन्होंने कहा - क्या बतायें महाराजश्री, एक लाख का नुकसान हो गया । मैंने पत्नी की तरफ देखा और पूछा - कि आखिर मामला क्या है ? उसने कहा - महाराज, छोड़ो इनकी बातें, इनकी तो आदत ही ऐसी है । यह नहीं कहते हैं कि दो लाख का फायदा हुआ है । मैंने कहा - मामला क्या है ? दो लाख का फायदा और एक लाख का नुकसान यह कैसे ? तो उस महिला ने कहा - महाराज, हकीकत यह है कि कल ही इन्होंने पन्द्रह सौ की खरीद का चना उन्नीस सौ में बेंचा है । सो दो लाख का फायदा हुआ है । आज चना का भाव बढ़कर इक्कीस सौ रूपये प्रति बोरा हो गया है । सो ये कह रहे हैं कि एक लाख का नुकसान हो गया । ऐसे लोगों को क्या कहेंगे ? ये वे लोग हैं जो पैसे के पीछे पागल होते हैं ।

कमायें, पर खाने का वक्त भी बचायें

ध्यान रखना, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा वह है जो पैसा कमाता ज़रूर है पर पैसे के पीछे पागल नहीं होता है । वह संसार की जितनी चीज़ों का आलम्बन लेता

है, उसे केवल जीवन निर्वाह का साधन मानता है। अन्दर से स्वीकार नहीं करता। जैसे खेत की फसल की सुरक्षा के लिये चारों ओर बाड़ लगाना ज़रूरी है, वैसे ही तुम्हारे जीवन के लिये धन-पैसे की ज़रूरत हो सकती है लेकिन वह तुम्हारा साध्य नहीं बनना चाहिये। पैसा तुम्हारे जीवन निर्वाह का साधन है, साध्य नहीं। ऐसी भावना रखने वाला व्यक्ति अपना जीवन धन्य कर लेता है। और जो पैसों के पीछे पागल हो जाता है वह कभी अपने जीवन को सुखी नहीं बना सकता है। इसलिये बन्धुओ, नि:कांक्षितपने को अपने अन्दर विकसित करना चाहते हो तो अपनी आकांक्षाओं की एक सीमा बनाने की कोशिश करो और साथ ही साध्य और साधन के अन्तर को लेकर चलो। क्या मेरा साध्य है और क्या मेरा साधन है ? इसे समझें।

बेड़ा दीनी खेत को, बेड़ा खेती खाय।
तीन लोक संशय पड़ा, कहां करे समझाय ॥

खेत की सुरक्षा के लिये हमने बाड़ लगाई और बाड़ ही खेत को खा गई तो उसको हम क्या करें ? यदि वह सीमा का उल्लंघन करके खेत खाने लगे तो फिर उससे बड़ा अभागा कोई नहीं है। धन-पैसा हमने अपने जीवन के गुज़ारे के लिये कमाया है, लेकिन कमाने में इस कदर पागल हो जाना किसी पागलपन से कम नहीं है। कम से कम आप इतना करिये कि रोटी कमाईये पर खाने का वक्त ज़रूर निकालिये। कहीं ऐसा न हो कि कमाने के चक्कर में खाने का वक्त भी हाथ से चला जाये। आपका जीवन यूँ ही नष्ट-भ्रष्ट न हो जाये। हम इन बातों को समझकर अपने जीवन को आगे बढ़ायें। इसी के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

गया १२-०३-०७

प्रेम के पुष्प खिलायें

सम्यग्दर्शन वह मार्ग है, जो हमारी आत्मा को विशुद्ध बनाता है। सम्यक्त्व जहाँ हमारी विशुद्धि का आधार है वहीं वह हमारे व्यवहार को विनम्र और सौम्य भी बनाता है। जैसे दीपक के जलने से प्रकाश फैलता है, वैसे ही भीतर सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होते ही बाहर के व्यवहार में परिवर्तन घटित होने लगता है। जो भीतर होता है वही बाहर अभिव्यक्त होता है। इसी कारण सम्यग्दृष्टि अपनी काषायिक दुर्बलताओं को दूर करके जहाँ आत्मा को पवित्र बनाता है, वहीं व्यवहारगत शालीनता से जीवन को मधुर भी बना लेता है। उसका जीवन माधुर्य से भरा होता है। भीतर भी और बाहर भी और उसके सम्पर्क में आने वाले को भी माधुर्य का पुट मिल जाता है।

निर्विचिकित्सा अंग

आज मैं आपसे सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग की बात करने जा रहा हूँ। जिसका नाम है निर्विचिकित्सा अंग। विचिकित्सा का अर्थ होता है घृणा या ग्लानि। यह घृणा या ग्लानि बहुत बड़ी दुर्बलता है। यह एक काषायिक परिणति है। इसके रहते हमारे अन्दर धर्म का आविर्भाव नहीं हो सकता है। जीव किसी के भी प्रति घृणा या ग्लानि का भाव नहीं रखता है। इसे दो प्रकार से व्याख्यायित किया गया है - एक हमारी शारीरिक अशुचिता और एक हमारी भीतर की काषायिक परिणति। दो प्रकार की विचिकित्सा, एक पारिणामिक और दूसरी काषायिक। शरीर के ग्लानिजनक रूप को देखकर मन में घृणा का भाव न आना और उसके गुणों के प्रति आदर रखना हमारा व्यावहारिक निर्विचिकित्सा गुण है और किसी के प्रति किसी भी प्रकार की घृणा अथवा नफरत का भाव उत्पन्न न होना यह हमारी आन्तरिक निर्विचिकित्सा गुण का लक्षण है।

देह से परे देही पर दृष्टि

निर्विचिकित्सा अंग की व्याख्या करते हुये आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं -

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय-पवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति मता निर्विचिकित्सता ।। १३ ।।

यह जो हमारा शरीर है वह स्वभाव से अशुचि का पिण्ड है। इस अशुचि के भण्डार स्वरूप शरीर को देखकर/शरीर के ग्लानिजनक रूप को देखकर मन में घृणा और ग्लानि का भाव न लाकर उनके गुणों के प्रति आदर का भाव रखना निर्विचिकित्सा अंग है। तय है शरीर चाहे किसी का भी क्यों न हो, यह अशुचिता का पिण्ड है। इस शरीर का निर्माण ही तमाम प्रकार के अपवित्र द्रव्यों के मेल से हुआ है। अगर हम किसी भी प्रकार की शारीरिक अशुचिता को देखकर मन में ग्लानि का भाव रखते हैं तो यह हमारी बहुत बड़ी दुर्बलता है। सन्त कहते हैं - देह को नहीं, अन्दर के देही को देखो। शरीर को नहीं, भीतर बैठे शरीरी को पहचानने की कोशिश करो। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि शरीर पर नहीं, भीतर बैठे शरीरी पर होती है। वह हमेशा चर्म को नहीं मर्म को महत्त्व देता है। वह मानता है कि भले ही शरीर किसी का ऊपर से सुन्दर-असुन्दर हो सकता है, रूपवान्-विद्रूप हो सकता है, अच्छा और बुरा हो सकता है अथवा शरीर में ग्लानि जनक रूप में दिखाई पड़ सकता है, लेकिन आत्मा सबकी एक है, सुन्दर है, श्रेष्ठ है और सौम्य है। आत्मसत्ता के हिसाब से किसी में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। शरीर अलग-अलग है, लेकिन आत्मा सबकी एक है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि आत्मा पर केन्द्रित होती है। आत्मगुणों की दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक आत्मा में बिल्कुल भी भिन्नता नहीं है। हम सबकी आत्मा उस शुद्धात्मा की तरह है जिन्हें हम सिद्ध कहते हैं। तत्त्वतः उनमें और हममें कोई अन्तर नहीं है। सबके भीतर का जो ऐश्वर्य है वह समान है। सबकी आत्मा की जो शक्तियाँ हैं वे समान हैं। उसमें किंचित् भी असमानता नहीं है। किंचित् भी विरूपता नहीं है। जहाँ एकरूपता का अहसास होता है, वहाँ समता का

भाव होता है और जहाँ समता का भाव होता है वहाँ शान्ति का आविर्भाव होता है। सम्यक्त्वी इसी आत्मसौम्य की मनोभूमिका में जीता है। इसलिये वह देह को गौण करके भीतर के विदेही तत्त्व पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है। उसकी ये धारणा रहती है कि शरीर तो जीर्ण-शीर्ण स्वभावी है। शरीर किसी का भी सुन्दर हो ही नहीं सकता है। शरीर में जो भी है वह सब अशुद्ध ही है। अज्ञानी शरीर की सुन्दरता पर आकर्षित होकर मुग्ध हो जाता है। शरीर तो कभी सुन्दर हो ही नहीं सकता है। हमारे शरीर का निर्माण जिन द्रव्यों से हुआ है, उन द्रव्यों का विश्लेषण करके देखें तो पायेंगे कि हमारे शरीर में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं है जिसे सुन्दर कहा जा सके। अपितु हमारे शरीर के अन्दर जो मैटेरियल है वह यदि बाहर निकल आये तो सब असुन्दर लगने लगे। फिर आप किस सौन्दर्य की बात करते हैं ?

सागर के जल से शुचि कीजे, तो भी शुद्ध न होई

सन्त कहते हैं कि ऊपर के सौन्दर्य को मत देखो। आज जिस रूप के तुम दीवाने बने हो या जिस रूप का तुम अभिमान कर रहे हो, या जिस विद्रूपता से तुम किसी से घृणा कर रहे हो, थोड़ा अगर विचार करो, तो पाओगे कि तुम्हारे तन पर मक्खी के पंख जैसी पतली चमड़ी की परत निकल जाये तो तुम अपने ही शरीर को देखकर घबड़ाने लगोगे। तुम्हें अपने ही शरीर के प्रति ग्लानि होने लगेगी, यह है तुम्हारी असलियत। सब प्रकार के अशुद्ध और अपवित्र पदार्थों के योग से शरीर का निर्माण हुआ है। सन्त कहते हैं -

नव द्वार बहे घिनकारी अस देह करे किम यारी।

इस शरीर में तो इस प्रकार के तमाम द्रव्य भरे हुये हैं। इसलिये इस शरीर के प्रति ज्यादा अनुराग अथवा इस शरीर की बीभत्सता को देखकर मन में घृणा और ग्लानि का भाव रखना अज्ञानी की पहचान है। ज्ञानी के अन्दर तो ऐसा कुछ होता ही नहीं है। शरीर का स्वभाव तो ऐसा है कि अगर इसे सागर के जल से भी पवित्र किया जाये तो वह अपवित्र ही रहेगा। इसे पवित्र करना संभव नहीं है। अपितु दुनिया की पवित्रतम जितनी भी चीज़ें हैं वे शरीर के सम्पर्क में आने के बाद अपवित्र हो जाती

हैं। सन्त कहते हैं - गंगा के निर्मल जल से नहाने के बाद भी शरीर निर्मल नहीं होता, अपितु इस शरीर के स्पर्श से गंगा का पानी भी अपवित्र हो जाता है। निर्मल जल भी मलिन हो जाता है। इसलिये कहते हैं -

केशर, चन्दन, पुष्प, सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परसतैं होय अपावन निशदिन मल जारी॥

वर्क चढ़ा सोने का ऊपर, अन्दर भरी बुराई

यही इसका स्वभाव है, इसलिये मूल्य शरीर का नहीं मूल्य शरीरी का है। शरीर में पूज्यता आती है तब, जब हम उसमें रत्नत्रय का आविर्भाव करते हैं। गुणों के विकास से शरीर पूज्य हो जाता है। शरीर का अपने आपमें कोई मूल्य नहीं, शरीर का अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं। समन्तभद्र महाराज कहते हैं - **स्वभावतो शुचौ काये** यह तो स्वभावत: अपवित्र है। इसे हम पवित्र करने का जितना चाहे यत्न करें, पवित्र होगा ही नहीं। कोई कचरे के ढेर में सेंट उड़ेले, चाहे कितना भी सेंट उड़ेलें, कचरे से कभी सुवास नहीं आ सकती। वहाँ तो सेंट ही बर्बाद करना है। ठीक ऐसे ही देह का शृंगार कर आत्मसौन्दर्य को प्राप्त करने का मतलब है, कचरे में सेंट डालकर उसमें सुगन्ध उत्पन्न करने का असफल प्रयत्न करना है, जो असंभव है।

कोई व्यक्ति मल से भरे मटके को फूलों से सजाये तो हम उसे क्या कहेंगे ? ऐसा मटका जिसमें मल भरा है, उस मटके को हम ढाँक सकते हैं, सजा सकते हैं, लेकिन उसके भीतर की दुर्गन्ध को रोका नहीं जा सकता है। यह मात्र ऊपर से सजा हुआ है। यदि उस मटके में हल्का-सा पंचर हो जाये और मैटेरियल बाहर आ जाये तो हमें नाक पर रूमाल रखने को मजबूर होना पड़ेगा। यह हकीकत है। इसलिये शरीर का आकर्षण, शरीर की मुग्धता, केवल अज्ञानी की पहचान है।

किसी शायर ने कितना सही कहा है -

देखकर न फिसलो ऊपर की सफाई पर।
वर्क चाँदी का चढ़ा है गोबर की मिठाई पर॥

ज्ञानी की दृष्टि ऐसी नहीं रहती है, वह तो चर्म की तरफ नहीं, मर्म पर रखता है। देह नहीं आत्मा का मूल्य समझता है। वह कहता है इसके विषय में क्या सोचूँ, इसको तो पवित्र नहीं बनाया जा सकता है।

तन में मत उलझो रे भाई, करो आत्मशृंगार

अरे भाई, कोई कोयले को कितना ही धोये तो क्या कोयला सफेद हो सकता है ? कोयले को धोकर सफेद करना मूर्खता है। सन्त कहते हैं - कोयले में सफेदी लाना चाहते हो तो धोने से नहीं, बल्कि आग में तपाने से वह राख में परिवर्तित हो जायेगा और राख में परिवर्तित होने के बाद वह काला कोयला भी चाँदी जैसा उज्ज्वल हो सकता है।

बन्धुओ, शरीर का अगर मूल्य बढ़ाना चाहते हो, शरीर का यदि महत्त्व बढ़ाना चाहते हो तो उसे बाहर के शृंगार से नहीं, बल्कि अन्दर की साधना से सुसज्जित करो। रत्नत्रय का अवलम्बन मिलते ही इस शरीर में भी पूज्यता आ जाती है। जो शरीर मल का पिटारा है वही शरीर जब तप, त्याग, संयम और आराधना से जुड़ जाता है, तो पूज्यता का आधार बन जाता है। शरीर में जितनी पूज्यता है वह उसके गुणों के कारण है। गुणों की अभिव्यक्ति होती है तो सब कुछ पूज्य हो जाता है और गुण नहीं हैं तो सब कुछ खतम हो जाता है। भीतर गुण हैं तो शरीर का महत्त्व है और भीतर गुण नहीं हैं तो शरीर का कोई महत्त्व नहीं है।

भला पैकिंग का क्या मूल्य ?

एक बार एक आदमी हलवाई के यहाँ रसगुल्ला खरीदने के लिये गया। हलवाई ने रसगुल्ले को दोने में रखकर तौलना शुरू कर दिया। अब जब वह तौलने लगा तो दोना बहुत गर्वित हो उठा। देखो, मेरा कितना मूल्य है, कि आज मैं भी रसगुल्ले के भाव में तुल रहा हूँ। अपनी बात को अभी वह प्रकट कर ही पाया था कि थोड़ी ही देर में हलवाई ने रसगुल्ले तौलकर दे दिये। खाने वाले ने रसगुल्ले खा लिये और दोना फेंक दिया। दोने को अपनी औकात का पता लग गया। दोने का मूल्य तब तक है जब तक उसमें रसगुल्ला है। अभी तुल रहा है तो अपने कारण नहीं।

बल्कि रसगुल्ले के कारण। लेकिन रसगुल्ले के अलग होते ही वही दोना जो अभी तराजू या हाथ पर रखा हुआ है वही दोना किसी नाली के किनारे भी पड़ा मिल सकता है। बल्कि पड़ा मिलता ही है। यह तो है ऊपर का दोना और भीतर के जो गुण हैं वे हैं रसगुल्ला। दोने का मूल्य और महत्त्व तब तक है जब तक तुम्हारे भीतर रसगुल्ला रूप गुण हैं। इसलिये कहते हैं - **स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।** रत्नत्रय से ही इस काया में पवित्रता आती है। वह पवित्रता हमारे भीतर आनी चाहिये।

आगे बढ़ें हाथ सेवा को

दृष्टि चर्म पर नहीं मर्म पर रहे। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव शरीर की अपवित्रता को देखकर घबड़ाता नहीं है। वह मर्म पर दृष्टि रखता है और मर्म पर दृष्टि रखने के कारण वह गुणों की खान आत्मा का सत्कार करता है। कोई कितना भी रुग्ण हो, कोई कितना भी पीड़ित हो, कोई कितना भी ग्लानि से भरा हुआ हो, पर उसके मन में ग्लानि नहीं आती। वह कहता है कि शरीर तो शरीर है, शरीर के विषय में क्या सोचना ? सोचना है तो आत्मा के विषय में सोचो। आत्मा का स्पर्श करने की बात सोचो। आत्मा तो सबकी एक जैसी है, लेकिन आज हम लोग आत्मा की बातें ज़रूर करते हैं, लेकिन कभी किसी के शरीर में अपवित्रता हो, किसी तरह की अशुचिता हो तो उसको दूर करने में ग्लानि का भाव रखने लगते हैं। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में किसी भी तरह की बीमारी हो तो आपको उसकी सेवा करने का भाव नहीं होगा। बन्धुओ, ध्यान रखना, कि निर्विचिकित्सा अंग का व्यावहारिक रूप यही है कि हम दीन-दुखियों की सेवा करें। रुग्ण-पीड़ितों की सेवा करें।

यहाँ मुझे सुधेश जी की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं -

मत नमक छिड़को किसी के घाव पर तुम
हो सके तो हाथ से मरहम लगा दो।
मत हँसो लखकर अन्धेरी झोपड़ी को,
हो सके तो दीप रखकर तम भगा दो॥

यह भाव हमारे मन में हो। विचिकित्सा रहित वृत्ति हमारी हो तो हम सेवा का काम कर सकते हैं। ऐसी दृष्टि हमारे भीतर होनी चाहिये। लेकिन हम लोग हैं जो उस दृष्टि को रखते ही नहीं हैं। आत्मा के प्रति हमारी दृष्टि जानी चाहिये, बाहर की तरफ हमारी दृष्टि नहीं जानी चाहिये।

अर्थहीन है निष्प्राण दिया

आचार्य श्री कहते हैं - **दीप का नहीं ज्योति का और सीप का नहीं मोती का सम्मान होना चाहिये।** दीप और सीप तो ऊपर के आधार हैं। अगर असली कोई तत्त्व है तो वह ज्योति और मोती है। दीप का महत्त्व दीप के कारण नहीं, ज्योति के कारण है। और सीप का महत्त्व सीप के कारण नहीं, मोती के कारण है। हम मोती को देखें, सीप को नहीं। मोती छोटा-बड़ा नहीं होता, सीप छोटा-बड़ा हो सकता है। ज्योति में अन्तर नहीं होता। दीप में अन्तर हो सकता है। दीप सोने का भी हो सकता है और दीप मिट्टी का भी हो सकता है। पर ज्योति तो दोनों की समान है। सोने के दिये की ज्योति अलग हो, और माटी के दिये की ज्योति अलग हो, ऐसा नहीं हो सकता है। वह मिट्टी का दिया ज्यादा अच्छा है, जिसमें ज्योति है और वह सोने का दिया अर्थहीन है जिसकी ज्योति बुझी हुई है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की दृष्टि भी ज्योति पर होती है, वह मर्म द्रष्टा होता है। इसलिये कभी किसी के शरीर की अपवित्रता को देखकर वह घबड़ाता नहीं है। वह उनकी सेवा-सुश्रुषा और सत्कार में ही लगा रहता है। सेवा हमारे धर्म का मूल अंग है।

व्यावहारिक कर्त्तव्य ज़रूरी

जबसे हमने अध्यात्म को मूल बना लिया, हम व्यावहारिक कर्त्तव्यों से विमुख होना शुरू हो गये। बन्धुओ, सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का मतलब अपने व्यावहारिक कर्त्तव्यों को भूलना नहीं है। हम उन्हें पालन करने का भाव रखें। तब जाकर हम अपने आत्मोद्धार के मार्ग को प्रशस्त कर सकेंगे। दया धर्म का मूल तत्त्व है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी **धम्मो दयाविसुद्धो** कहकर करुणा को जीव का स्वभाव बताते हैं। यह दया और करुणा, जो हमारे धर्म का मूल है, आज केवल

शास्त्रीय आदर्श बनकर रह गये हैं। उसे परिवर्तित करके चलने की ज़रूरत है। हमें कोई रुग्ण-पीड़ित और परेशान व्यक्ति दिखे तो उसकी पीड़ा को दूर करने का प्रयास करें। आज लोगों में ऐसे संस्कार शेष नहीं रह गये कि किसी दीन-दुःखी की सेवा कर सकें। किसी के घाव में मरहम लगा सकें, या किसी कोढी के कुष्ठ को धो सकें। हम तो घृणा का भाव रखने लगते हैं। ऐसी भावना इस बात की परिचायक है कि हमारी दृष्टि आत्मा पर नहीं शरीर पर है। हम दीप को समझ रहे हैं, ज्योति की तरफ हमारी दृष्टि ही नहीं है। ज्योति पर हमारी दृष्टि केन्द्रित होनी चाहिये। सम्यग्दृष्टि की पहचान यही होती है।

सच्ची पूजा : सच्ची भक्ति

पण्डित टोडरमल जी के विषय में मैंने पढ़ा कि उनके निर्देशन में एक बार जयपुर में सिद्धचक्र विधान हो रहा था। उस विधान के मुख्य विधानाचार्य वही थे। वे अपने घर से शुद्ध धवल, वस्त्र पहिनकर निकल रहे थे। रास्ते में देखते हैं कि एक वृद्धा कीचड़ में फिसलकर गिर पड़ी है और कराह रही है। पण्डित जी को बात समझते देर नहीं लगी। अपने शुद्ध और धवल वस्त्रों की परवाह किये बिना वे सीधे उस बुढ़िया के पास गये और उससे पूँछा। बुढ़िया ने कहा - बेटा गिर गई हूँ, उठा नहीं जाता, हड्डी टूट गई है। पण्डित जी ने अन्य बातों की परवाह किये बिना उस वृद्धा को उठाया, गोद में लिया और चिकित्सक के पास ले गये। इसमें डेढ घण्टे का विलम्ब हो गया। डेढ घण्टे के विलम्ब के साथ जब पण्डित जी विधान में पहुँचे तो लोग उनकी प्रतीक्षा करते-करते थक गये थे और अब लोगों की आतुरता आक्रोश में परिवर्तित हो गई थी। सबने एक साथ पण्डित जी को उलाहना दिया - पण्डित जी आज तो आपने बहुत विलम्ब कर दिया। आज तो हमारा सारा पाठ अधूरा रह गया। पण्डित जी मुस्कुराये और उन्होंने एकदम शान्त भाव से कहा कि सिद्धचक्र का सच्चा पाठ तो आज ही हुआ है। सब लोगों को आश्चर्य हुआ और कहा कि पाठ तो शुरू ही नहीं हुआ है और आप कह रहे हैं कि सच्चा पाठ तो आज ही हुआ है। तब पण्डितजी ने रास्ते में घटित सारी घटना का ब्यौरा सुनाते हुये कहा कि ध्यान

रखो, भगवान की पूजा करना जितना ज़रूरी था उससे ज्यादा ज़रूरी उस वृद्धा की सेवा करना भी था। हम भगवान में निःस्पृहता की पूजा करते हैं। वह तो मन्दिर के देवता की पूजा है, लेकिन हमें घट-घट में विराजित जीते-जागते सिद्धात्मा की पूजा से भी पीछे नहीं हटना चाहिये। बन्धुओ, यह एक दृष्टि है, हम उस तरफ भी ध्यान रखें।

सेवा को मानें परम धर्म

सेवा भी धर्म का एक अंग है। सेवा सुश्रुषा का भाव वही कर सकता है जो ग्लानि पर विजय पाये। तुम्हारे घर में कोई बीमार है, कफ की शिकायत है। उससे उठा-बैठा नहीं जा रहा है। जब वह तुम्हें पुकारता है तो तुम इधर-उधर देखने लगते हो। अरे उस समय तो शास्त्रों में यहाँ तक बताया है कि यदि किसी मुनिराज की समाधि हो रही है और उनके अन्दर से कफ निकल रहा है और कफ को रखने के लिये कोई आधार नहीं है तो अपनी अंजुलि फैला दो और कहो कि इसमें कफ कर दो। यह कहलाती है सेवा और वैय्यावृत्ति। अरे यह तो शरीर का स्वभाव है, हाथ धो लोगे तो साफ हो जायेगा। घर-परिवार में आप सेवा के संस्कार रखोगे तो बाहर सेवा कर पाओगे। यदि घर में ही सेवा नहीं कर सके तो बाहर सेवा कैसे होगी ? सम्यग्दृष्टि की यह विशेषता होती है कि दूसरों की सेवा को अपना परम धर्म मानकर चलता है और जीवन के क्रम को उसी अनुरूप आगे बढ़ाता है। तब उसका जीवन महान बनता है। ऐसी ही दृष्टि रखें, चर्म को महत्त्व न दें, मर्म को महत्त्व दें।

चर्म पर नहीं , मर्म पर दृष्टि रखें

हमने सुना कि राजा जनक के दरबार में एक बार अष्टावक्र पहुँचे। अष्टावक्र एक बहुत ही पहुँचे हुये वेदान्त के ज्ञाता और आध्यात्मिक व्यक्ति थे। राजा जनक उनको अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। वे उनकी सभा में नियमित उपदेश देते थे। जनक ने एक बार अपने इलाके के सभी तत्त्वज्ञ पण्डितों की सभा बुलाई और उसमें अष्टावक्र का विशेष उद्बोधन रखा। उनका शरीर आठ जगह से टेढा होने के कारण चलना भी अजीब-ओ-गरीब होता था। दरबार में जब अष्टावक्र आने लगे तो

उनकी इस प्रकार की चाल को देखकर सभी विद्वान हँस पड़े। इस हँसी में सम्मान नहीं, बल्कि व्यंग था। अष्टावक्र ने देखा तो वे उल्टे पाँव लौटने लगे। जैसे ही लौटना शुरू किया तो जनक ने कहा कि प्रभु आप कैसे लौट रहे हैं? आप आईये। आज तो आपकी सभा है, पण्डितों की सभा में आपको सम्बोधन देना है। अष्टावक्र ने अत्यन्त दृढ़ता से कहा कि - मैं तो पण्डितों की सभा जानकर ही अपना तत्त्वोपदेश देने आया था। पर यह तो चमारों की सभा है और मैं चमारों के सामने नहीं बोलता। मैं पण्डितों के सामने बोलता हूँ। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये पण्डित लोग आये हुये हैं, और आप इन्हें चमार क्यों कह रहे हैं? अष्टावक्र ने कहा - राजन्! ये जितने लोग बैठे हैं, यह सब चमार हैं। ये पण्डित हो ही नहीं सकते। ये तत्त्वज्ञ तो हो ही नहीं सकते। क्योंकि इनकी दृष्टि मेरे इस चर्म पर है और जिसकी दृष्टि चर्म पर है, वह चमार ही है। जिसकी दृष्टि मर्म पर होती है वह पण्डित होता है। मर्म द्रष्टा बनें, चर्म द्रष्टा नहीं।

करें प्रशंसा इन्द्रराज भी

सम्यग्दृष्टि ऐसा ही मर्म द्रष्टा होता है और उस मर्म दृष्टि के परिणाम स्वरूप सबकी सेवा सुश्रुषा में सबसे आगे रहता है। बन्धुओ, यह तो कायिक निर्विचिकित्सा की बात हुई। शरीर की अपवित्रता को देखकर मन में घृणा और ग्लानि का भाव न आना सम्यक्त्वी की पहचान है। ऐसे ग्लानि और घृणारूप परिणामों को जीतने वाले राजा उद्दायन की चर्चा करना मैं आज के सन्दर्भ में आवश्यक समझता हूँ। जिन्हें आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि - ऐसी दृष्टि होती है सम्यग्दृष्टि की। फिर मैं आपसे काषायिक निर्विचिकित्सा की चर्चा करूँगा। राजा उद्दायन सच्चे सम्यग्दृष्टि राजा थे। उनके सम्यक्त्व की प्रशंसा देवराज इन्द्र भी कर रहे थे। इन्द्र की सभा लगी हुई थी, देवराज इन्द्र ने कहा कि मृत्युलोक में निर्विचिकित्सा अंग का अच्छे से पालन करने वाला यदि कोई है तो वह राजा उद्दायन है। देवों की सभा में एक देव के मन में कौतूहल जागा कि आखिर ऐसी क्या खासियत है कि एक मनुष्य की प्रशंसा देवता भी कर रहे हैं। जाकर परीक्षा लेनी चाहिये।

मुनि तन मलिन न देख घिनावे

वह मृत्युलोक आया। नीचे आकरके एक मुनि का वेष धारण किया। बिखरे हुए बाल, कृशकाय और पूरे शरीर में गलित कुष्ठ। लड़खड़ाते कदमों से वह चलने लगा। राजा उद्दायन रोज़ के नियमानुसार आज किसी सत्पात्र की प्रतीक्षा में अपने महल के द्वार पर खड़े हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा रोज़ अपने मुँह में रोटी का ग्रास तभी डालना चाहता है, जब किसी सत्पात्र को अपने हाथ से दान देकर हाथ को कृतार्थ कर ले। इसी प्रतीक्षा में वे खड़े थे। समीप आते हुये मुनिराज की मुद्रा को दूर से देखते ही उनकी आँखें चमक उठीं। मन प्रसन्नता से आह्लादित हो गया कि आज किसी मुनिराज के पडगाहन का लाभ मुझे मिलने वाला है। अहोभाग्य है मेरा। मुनिराज लड़खड़ाते हुए कदमों से आ रहे हैं। पूरे शरीर में मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। दुर्गन्ध फैल रही है, उनके शरीर के स्पर्श से हवा भी दुर्गन्धित हो गयी है। इतनी ज़्यादा दुर्गन्ध कि आसपास के लोग सहन नहीं कर सके और सभी ने अपनी नाँक पर रूमाल लगा लिया। लेकिन राजा उद्दायन और उनकी पत्नी सहजभाव से वहाँ खड़े रहे। मुनिराज के नजदीक आने पर हे स्वामिन्, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, कहकर नवधाभक्ति पूर्वक पड़गाहन किया। भावभक्ति से मुनिराज को अन्दर पहुँचाया। उनका आहार कराना शुरू किया। उन्होंने विधिपूर्वक आहार दिया। लेकिन उस देवता को तो परीक्षा लेनी थी, सो आहार करते-करते बीच में ही वमन कर दिया। उस वमन में इतनी दुर्गन्ध थी कि सब लोग भाग खड़े हुये। राजा उद्दायन को घोर पश्चात्ताप हुआ कि आह, कैसा दुर्भाग्य है कि मैंने महाराज को कौन सा विकृत तत्त्व दे दिया, जिससे वमन हो गया और इतनी तकलीफ हुई। उसने अपने आपको धिक्कारते हुये महाराज से कहा - महाराज हमें क्षमा करें। पूरी जगह को साफ करके महाराज के अंगों को धोना शुरू किया। लेकिन अभी भी देवता की परीक्षा पूरी नहीं हुई थी। महाराज के शरीर को धोने के लिये जैसे ही राजा उद्दायन आगे बढ़ा तो उन मुनिराज ने एक बार फिर वमन किया और अब की बार का वमन सीधे राजा उद्दायन पर ही कर दिया। राजा ने अपने वस्त्र और शरीर की परवाह किये बिना ही पहले मुनिराज की सेवा की और कहा महाराज, मुझे क्षमा करें।

हमसे बहुत बड़ा दोष हुआ, मैं अपराधी हूँ। मैंने आपको गलत आहार दे दिया है। हमें क्षमा करें। तब देव की परीक्षा पूरी हुई। वह अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हुआ और कहने लगा - दोष तुम्हारा नहीं, दोष तो मेरा है कि मुझे देवराज इन्द्र की बात स्वीकार कर लेनी चाहिए थी। सच में तुम ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव हो जो निर्विचिकित्सा अंग का सही ढंग से पालन करने वाले हो। तुम धन्य हो। बन्धुओ, यह एक दृष्टि है सम्यग्दृष्टि की, जिसके अन्तरंग में ऐसी दृष्टि प्रकट हो जाती है वह निश्चित रूप से धन्य कहलाता है। हमारे अन्दर भी एक ऐसी ही दृष्टि प्रकट होनी चाहिये।

बोओ फूल प्रेम के जग में

शरीर की अपवित्रता को न देखकर आत्मा के गुणों का आदर करना निर्विचिकित्सा अंग का व्यावहारिक रूप है। और कभी किसी के प्रति घृणा न करना, कभी किसी से नफरत न करना इसका आध्यात्मिक रूप भी है। बन्धुओ, घृणा एक काषायिक परिणति है, जो हमारी आत्मा को विकृति से भर देती है। ध्यान रखना, कि सम्यक्त्वी तो परम प्रेम का उपासक होता है और घृणा एवं प्रेम कभी एक साथ नहीं रह सकते हैं। यदि हमारे मन में किसी के प्रति घृणा का भाव है तो वहाँ प्रेम पनप नहीं सकता है। और जहाँ प्रेम का भाव है वहाँ घृणा नहीं पनप सकती है। यदि अपने जीवन का उद्धार करना चाहते हो तो प्रेम के बीज बोना शुरू करो। ***प्रेम के फूल खिलाओ, घृणा के काँटे नहीं और प्रेम के फूल तभी खिलेंगे जब तुम सद्भाव का बीज बोओगे।*** *अपने मन के अन्दर के दुर्भावों को दूर करने की कोशिश करो। अपने हृदय की घृणा को दूर करने की कोशिश करो।*

दृष्टि हमारी देखे गुण को

हमारे अन्दर की घृणा तभी दूर होगी जब हम प्रत्येक व्यक्ति के गुणों के प्रति प्रीति रखना शुरू करेंगे। गुणों का आदर करना शुरू कर दो आपके अन्दर प्रेम की अभिव्यक्ति होना शुरू हो जायेगी। लेकिन हम हैं कि दूसरों के गुणों को स्वीकारना ही नहीं चाहते, दोषों को तो हम बहुत देखते हैं, पर गुणों को हम कम देख पाते हैं। हम अपने थोड़े से गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर बताने में माहिर हैं, और दूसरों के छोटे से

दोष को विस्तार देने में सक्षम हैं। दूसरों के गुण हमें दिखाई नहीं पड़ते और अपने अवगुण हमें पहचानने में नहीं आते, यह हमारी कमजोरी है। इस कमजोरी को दूर करें। सन्त कहते हैं - यदि तुम प्रेमपूर्ण व्यवहार बनाना चाहते हो तो सबसे पहले उसके गुणों का आदर करना सीखो और गुणों के आदर के साथ-साथ उसकी प्रशंसा करना सीख जाओ। अगर आप एक-दूसरे की प्रशंसा करना शुरू कर दोगे तो आपके मन में कभी वैमनस्य का भाव नहीं होगा। अगर आप किसी की प्रशंसा नहीं करोगे तो आपके अपने भी आपसे दूर हो जायेंगे। आज लोग प्रशंसा करने में बहुत पिछड़ जाते हैं। घर-परिवार हो या समाज, कहीं भी रहो, एक-दूसरे की प्रशंसा करो।

निज प्रशंस केहि लाग न नीका ?

प्रशंसा और प्रोत्साहन वह खुराक है जो मरणासन्न में भी प्राण फूँक देती है। आप व्यक्ति की प्रशंसा करके उससे चाहे जो करा सकते हो और आलोचना करके अपने घनिष्ठ मित्र को भी पराया बनाया जा सकता है। याद रखो, प्रशंसा करो, पर झूठी प्रशंसा मत करो और झूठी प्रशंसा करने वालों से सावधान भी रहना। यह एकदम चापलूस किस्म के लोग होते हैं। सामने प्रशंसा करेंगे और पीठ पीछे निन्दा करेंगे। ऐसे लोग बड़े खतरनाक होते हैं। चापलूसी नहीं, सही प्रशंसा करो। यदि तुम्हें किसी में कोई गुण दिखाई देता है तो बेझिझक प्रशंसा करो। आप निन्यानवें बुराईयों की बुराई मत करो, पर एक अच्छाई की प्रशंसा करना शुरू कर दोगे तो वे सभी तुम्हारे कायल बन जायेंगे।

वर्षों लगते प्रेम बनाने, घृणा एक पल में पलती

लेकिन हम देखें, कि अपने सम्बन्धों को हम किस स्तर पर स्थापित करते हैं। किसी से प्रेम और आत्मीयता के सम्बन्ध बनाने में हमें वर्षों का समय लग जाता है, घृणा और विद्वेष के सम्बन्ध हम एक पल में बना लेते हैं। आप विचार करें, अपने मन का अन्तर विश्लेषण करके देखें, कि दुनिया में जितने भी आपके सम्बन्ध हैं, उनमें प्रेम और आत्मीयता के सम्बन्ध कितने हैं और घृणा तथा विद्वेष के सम्बन्ध

वाले लोग कितने हैं ? यदि आपने प्रेम को विस्तार दिया होगा तो तुम्हारे सम्बन्ध प्रेम पूर्ण होंगे और यदि तुमने घृणा को अवकाश दिया होगा तो तुम्हारे सम्बन्ध घृणा और विद्वेष से भरे होंगे। सन्त कहते हैं कि - घृणा नहीं, प्रेम को अपनाने की कोशिश करो। हमारा धर्म तो केवल प्रेम का पाठ पढ़ाता है इसीलिये निरन्तर हमारी दृष्टि उसी प्रेमपूर्ण जीवन की ओर होनी चाहिए। बन्धुओ, घृणा का कार्य तो हमने बहुत किया पर किसी के प्रति घृणा करना जीवन का सबसे घृणित कार्य है। घृणा के योग्य कोई है ही नहीं। किससे घृणा करते हो ? तुममें और उसमें अन्तर क्या है ? सब तुम्हारा ही तो अपना प्रतिबिम्ब है। तत्त्वत: किसी में कोई अन्तर नहीं। दूसरों से घृणा करना यानी खुद से ही घृणा करना है। दूसरों से नफ़रत करना खुद से ही नफ़रत करना है। हम आज किसी के प्रति घृणा का भाव कर रहे हैं तो ध्यान रखना कि कल वह भी हमारे प्रति घृणा का भाव रखेगा। याद रखना, सारा जगत् एक प्रतिध्वनि के समान है। हम जैसा करेंगे, हमें वैसा ही प्राप्त होगा। हम किसी के प्रति प्रेम करेंगे तो प्रेम मिलेगा और नफ़रत करेंगे तो नफ़रत।

प्रतिक्रिया मिलती वही जैसी क्रिया करते हैं आप

एक आठ साल का बच्चा अपनी माँ से किसी कारण से नाराज हो गया और नाराज होकर वह सीधे जंगल की ओर भाग गया। घर के पास ही जंगल था। जंगल पहुँचा और जंगल में जाकर के जोर-जोर से कहना शुरू कर दिया - 'मम्मी आई हेट यू, मम्मी आई हेट यू'। जंगल घना, वीरान और सुनसान था। जैसे ही बच्चे ने कहना शुरू किया - मम्मी मैं तुमसे घृणा करता हूँ, मैं तुमसे घृणा करता हूँ। तो आवाज़ पूरे जंगल में प्रतिध्वनित हुई और कई गुनी बनकर लौट आई। जब यह बात उसके कान में आई तो वह लड़का बहुत घबड़ा गया कि अरे ! यह क्या, मैंने मम्मी को हेट किया और जंगल के सारे बच्चे मुझसे नफ़रत करने लगे। वह फौरन उल्टे पैर लौटकर माँ के पास आया और माँ से क्षमा माँगने लगा कि माँ मुझे क्षमा कर दो। मैंने आपसे नफ़रत की तो जंगल के सारे बच्चे मुझसे नफ़रत करने लगे। माँ समझ गई और बेटे से कहा - जो तूने मम्मी से हेट किया तो सब तुझसे हेट करने लगे। अब जा और कहना कि मम्मी आई लव यू, सब तुझसे प्यार करने लगेंगे। वह

बच्चा गया और जंगल में कहना शुरू किया, मम्मी आई लव यू, मम्मी आई लव यू, तो चारों ओर से आवाज आई लव यू, आई लव यू। वह रोमांचित हो उठा और कहा कि मैंने मम्मी से प्रेम किया और सब मुझसे प्रेम करने लगे। माँ से घृणा किया, तो सब मुझसे घृणा करने लगे। बन्धुओ, सारा जगत् तुम्हारी ही प्रतिध्वनि है। प्रेम करोगे तो प्रेम मिलेगा। घृणा करोगे तो घृणा मिलेगी। क्या करना है तय तुम्हें ही करना है। सब अपनी ही ध्वनि की प्रतिध्वनि है। जैसा हम सोचते हैं, उसका प्रतिबिम्ब हमारे चित्त पर पड़ता है और वही कालान्तर में फलित होता है, इसलिये कभी किसी के प्रति घृणा, वैमनस्य की भावना अपने मन में उत्पन्न ही न होने दो।

औदार्य का खुला आकाश : ईर्ष्या की बन्द खाई

वस्तुत: घृणा हमारे मन में उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या का परिणाम है। जब किसी के गुणों के प्रति हमारे मन में असहिष्णुता बढ़ने लगती है तो उसके प्रति हमारे मन में घृणा उत्पन्न होने लगती है और यह घृणा हमारे सम्बन्धों में दरार डालना शुरू कर देती है। इसलिये कभी किसी के साथ ईर्ष्या मत करो। किसी के प्रति ईर्ष्या करना अपने आन्तरिक ऐश्वर्य को नष्ट करना है। जो व्यक्ति ईर्ष्या में जीते हैं, उनका आन्तरिक ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है और जो व्यक्ति प्रेम में जीते हैं उनका आन्तरिक ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है। कुरलकाव्य में लिखा है - **जो लोग ईर्ष्या करते हैं लक्ष्मी उनके घर को अपनी बड़ी बहिन दरिद्रता की देखरेख में छोड़कर चली जाती है।** वस्तुत: ईर्ष्या करना अपने ऐश्वर्य को खोना है। इससे अपने आपको बचाओ। यह ओछी मानसिकता की अभिव्यक्ति है। अपने हृदय को औदार्य से भरें। जब हमारी मानसिकता संकीर्ण हो जाती है तब हमारा जो चित्त है वह सीमित हो जाता है और जब वही मानसिकता विशाल और व्यापक बनती है तो अन्दर की सोच विस्तीर्ण हो जाती है। वस्तुत: सोच के विस्तार में हृदय आकाश बन जाता है, जो सबको स्थान दे देता है और सोच की संकीर्णता में हमारा हृदय अत्यन्त क्षुद्र बन जाता है, अपनों को भी प्रवेश देने में अक्षम बन जाता है।

बन्धुओ, अपने हृदय को आसमान सा विशाल बनाइये। सबको स्थान देने का प्रयास कीजिये। हमारा धर्म केवल हमें यही पाठ पढ़ाता है। ऐसा पाठ पढ़ने में

यदि हम सक्षम होते हैं, तो हमारा जीवन निहाल हो जायेगा और यदि इस पाठ से हम वंचित रहते हैं, तो कभी भी हम अपने जीवन का उद्धार करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। इसलिये गुणों को आदर देना शुरू कीजिये। घृणा को दूर रखने का प्रयास कीजिये। परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने की कोशिश कीजिये। निश्चित ही वह हमारे जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। परन्तु आजकल हम ऐसा कहाँ कर पा रहे हैं। हमारी दृष्टि अत्यन्त संकीर्ण होती जा रही है। हम दूसरों के दोषों को भी देखते हैं। दूसरों के गुणों को देखने की उदारता हम नहीं दिखाते हैं। इससे हमारा जीवन दूषित हो रहा है।

गुण ग्रहण का भाव रखें हम

सन्त कहते हैं - दूसरों के गुणों को देखना शुरू कर दो और देख करके क्या करो ? दो तरह की बातें होती हैं - जो दूसरे के गुणों को देखकर जल उठते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो दूसरे के गुणों को देखकर खिल उठते हैं। गुणों को देखकर जला भी जा सकता है और गुणों को देखकर खिला भी जा सकता है। गुणविद्वेषी गुणों को देखकर जल उठता है और गुणानुरागी गुणी को देखकर खिल उठता है। हम गुणविद्वेषी न बनें, गुणानुरागी बनें। गुणानुरागी बनने का मतलब सामने वाले के गुणों के ग्रहण करने की भावना मन में रखें। गुणों को ग्रहण करने की भावना अगर हम रखेंगे तो गुणवान हमारा आदर्श बनेगा और गुणों से द्वेष रखेंगे, तो गुणवान हमारा प्रतिद्वन्द्वी बनेगा। ध्यान रखना, हम किसी को अपने प्रतिद्वन्द्वी की तरह खड़ा न करें, उसे अपने आदर्श के रूप में खड़ा करें। चाहे वह हमारा कितना भी विरोधी और विपक्षी ही क्यों न हो ? धर्मात्मा की दृष्टि यही होती है। गुणानुरागी दृष्टि है तो सब काम होगा। गुणों के प्रति अनुराग रखोगे तो तुम्हारे भीतर के गुण विकसित होंगे। तुम्हारी आत्मा में उज्ज्वलता और निर्मलता प्रकट होगी और दुर्भावनाओं को अपने आपसे मुक्त करने में सक्षम हो सकोगे।

सुख की उमर बढ़ाता चल, दु:ख की उमर घटाता चल

यह विचार करो कि किसी के प्रति नफरत के बीज बोकर हासिल क्या होता है ? घृणा किसी से कर रहे हो, द्वेष कर रहे हो तो मन को कितना सुकून मिल रहा है ?

विचार करके देखो, जिसके प्रति प्रेम होता है उसके सम्बन्ध में विचार करने में प्रसन्नता की अनुभूति होती है। अथवा जिसके प्रति विद्वेष होता है उसके प्रति विचार करने में आपको ज्यादा प्रसन्नता की अनुभूति होती है। किसमें आपको अच्छा अहसास होता है ? प्रेमी के प्रति सोचने में या शत्रु के प्रति सोचने में ? यदि प्रेमी के प्रति सोचने से प्रसन्नता की अनुभूति होती है तो शत्रुओं की संख्या को घटाना शुरू कर दो। प्रेमी का सामीप्य आप चाहते हो और शत्रुओं की संख्या आप बढ़ाते हो तो कैसे काम होगा ? जीव में सुख, शान्ति और चैन का अनुपात बढ़ाना है, तो दुर्भावों को दूर करने का यत्न करें और सद्भावों के बीज बोना प्रारम्भ कर दीजिये। सद्भावों के बीज जितना बोओगे, आपको जीवन में उतने ही आनन्द की अनुभूति होगी और असद्भावों के बीजों की फसल आपके चित्त को दुर्भावों से उतनी ही अधिक दूभर कर देगी। हमें खुद सोचना होगा, अपनी प्राथमिकताओं को बदलना होगा, उदारता को अपनायें, एक-दूसरे की प्रशंसा करना शुरू कर दीजिये।

शुरूआत करें घर से अपने

आप देखिये, दूर की बात क्या करें ? हम आज घर-परिवार से ही अपनी बात शुरू करना चाहते हैं। आज भाई-भाई में बहुत ज्यादा ईर्ष्या या विद्वेष होता है। दो भाई हैं, लेकिन दोनों भाइयों में एक-दूसरे के प्रति खाई है। एक भाई अगर आगे बढ़ रहा हो तो दूसरे भाई के मन में जो प्रसन्नता होनी चाहिये, वह प्रसन्नता तो एक तरफ रही, उसके दिमाग में आता है कि इसको नीचा कैसे दिखाया जाये ? बहुत आगे बढ़ता फिरता है। समाज में बहुत आगे अपना स्थान बना रहा है। खूब नाम कमा रहा है। दो नम्बर का काम करके आगे बढ़ रहा है। दुनिया का रिवाज़ है कि दूसरा आगे बढ़े तो वह दो नम्बर से बढ़ा और हम बढ़े हैं तो अपनी मेहनत और गाढी कमाई से बढ़े हैं। यह हमारी उल्टी सोच का नतीजा है। हम कभी किसी के प्रति अच्छा नहीं सोच पाते। आखिर ऐसा देख करके आपके अन्दर भी ऐसी ही असहिष्णुता का भाव विकसित होता है। ऐसी असहिष्णुता हमें ईर्ष्यालु बना देती है और हम इसके कारण अपने सगे से दूर या जुदे हो जाते हैं। उनके प्रति प्रेम नहीं पनप पाता है। यदि भाई-भाई एक-दूसरे के गुणों की प्रशंसा करने लगते हैं, एक

भाई में यदि किसी भी प्रकार की अच्छाई है और दूसरा भाई उसकी खुलेमन से प्रशंसा करता है दिल से स्वागत करता है और कहता है - भैया तुम्हारी इस उपलब्धि से हमें हार्दिक प्रसन्नता है तो देखो कितना आनन्द आता है और दोनों भाइयों के बीच में कितना प्रगाढ़ सम्बन्ध बनता है।

आजकल बड़ा विचित्र हाल है। मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि समाज में लोगों को लोकप्रियता जल्दी मिल जाती है। वे लोग जो समाज में भले ही लोकप्रिय हैं, अपने परिवार के प्रिय नहीं बन पाते। समाज में लोकप्रिय हो गये, पर परिवार प्रिय नहीं हो सके। समाज जिनकी सद्प्रशंसा कर रहा है, घर में ही उनको प्रशंसा नहीं मिल पा रही है। यह बड़ी कमजोरी है। हम उनकी प्रशंसा करें। हम उनको प्रोत्साहित करें। हम उनको आगे बढ़ायें। हालाँकि मैं उन लोकप्रियों से यह भी कहना चाहता हूँ कि भैया लोकप्रिय बाद में बनना, पहले परिवारप्रिय बनना। तुम्हारी भी अकुशलता है कि दुनिया तुम्हें माला पहना रही है और घर के लोग तुम्हें आँखें दिखा रहे हैं। तुम्हारी भी कहीं न कहीं कोई कमी तो होगी। तुम उस कमी को दूर करो। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि ऐसी नौबत ही न आये। अगर किसी में अच्छाई है तो उसकी प्रशंसा करना शुरू कर दें पर ऐसा कहाँ हो पाता है ?

क्या ऐसा करतीं हैं आप ?

घर में देवरानी-जेठानी हैं। देवरानी अपने मायके से आई है। उसके भाई ने बहुत सुन्दर साड़ी दी और आज देवरानी पहन कर निकली तो जेठानी उसकी प्रशंसा न करके अपनी भौंहे तान रही है। अच्छा हमें दिखा रही है। अब कहाँ से प्रेम बढ़ेगा ? आप उसे देख करके जलोगे तो प्रेम नहीं बढ़ेगा। अगर उस समय यह कहे कि बहिन यह साड़ी तो तुम्हें बहुत अच्छी लग रही है, क्या बढ़िया साड़ी लाई हो, बहुत अच्छी साड़ी है, तो उसके मन में प्रेम होगा। हालाँकि मैं देवरानियों से भी कहना चाहता हूँ कि अगर जेठानियों का प्रेम पाना चाहती हो या अपनी सास का प्रेम पाना चाहती हो तो अपने मायके से जब भी कोई वस्तु लेकर आओ तो अपनी जेठानी को सबसे पहले दिखाओ। इसलिये नहीं कि वह जल जाये, बल्कि इसलिये कि यह मुझे भैया ने दी है। मुझे अच्छी नहीं लगती, इसको पहले आप पहिन लो,

आप पर अच्छी लगेगी। आप पहिन लोगी तो इसके बाद मैं पहिन लूँगी। अरे महाराज, कहाँ का उपदेश दे रहे हो, ऐसा कर देंगे तो सारा मज़ा ही खत्म हो जायेगा। यही हमारी कमज़ोरी है। यही हमारी नादानी है। हम अपने मज़ा के चक्कर में जीवन का मज़ा किरकिरा कर डालते हैं। लेकिन यदि ऐसा करोगे तो क्या बुराई है ? आप पहले ऐसा करो और कोई कुछ लेकर के आये और तुमसे कहे कि तुम ऐसा कर लो, तुम कर लोगे तो मुझे अच्छा लगेगा। देख लेना ज़िन्दगी भर लोग एक-दूसरे के पूरक बनें रहेंगे। यदि ऐसा नहीं करोगे तो एक-दूसरे को घायल ही करते रहोगे।

कायल करो, घायल नहीं

सन्त कहते हैं किसी को अपने व्यवहार से घायल मत करो। अगर बन सके तो दूसरों को अपना कायल बनाने का प्रयत्न करो। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति वह है जो सबको अपना कायल बना देता है। अज्ञानी वह है जो दूसरे को घायल बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है। कायल बनाओ, घायल मत करो। यह व्यवहार पर निर्भर करता है। मैं आपसे कहता हूँ कि किसी के पास कोई चीज़ आये तो प्रशंसा करना शुरू कर दीजिये, आज से नियम ले लीजिये। पर मन से प्रशंसा करना और मधुरता से करना। कई-कई बार लोग प्रशंसा भी करते हैं, पर ब्याजस्तुति कर देते हैं। यह बड़ी खतरनाक होती है। ऐसी प्रशंसा कि सामने वाला झेल न सके। यह गलत है। प्रशंसा कीजिये ऐसी जो सामने वाले को प्रसन्नता से भर दे। पिता-पुत्र के बीच अनबन है। मैं देखता हूँ कि पिता का स्थान पिता का है, पुत्र का स्थान पुत्र का है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि बेटा अगर बाप भी बन जाये तो भी बाप के आगे वह बेटा ही बना रहता है और उसके पिता उसको बुद्धू ही समझते हैं, इसलिये एक-दूसरे के प्रति तालमेल नहीं हो पाता है। आप चाहते हैं कि आपका बेटा आपका बहुमान करे तो बेटे ने अगर कोई अच्छा काम किया तो उसकी प्रशंसा करो, उसका भरोसा करो। हाँ बेटा तूने ठीक किया, उसकी पीठ थपथपाओ।

मीन-मेख नहीं, मार्गदर्शन दें

मीनमेख मत निकालिये। कभी भी मीन-मेख से प्रेम स्थापित नहीं होता है। प्रेम तो केवल प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही प्रकट हो सकता है, इसलिये इसे अपने आपसे दूर रखने की कोशिश करिये और देखिये जीवन में क्या रस प्रकट होता है ? जीवन का कैसा आनन्द प्रकट होता है, वह हमें धीरे-धीरे विकसित करने की ज़रूरत है। जब हम उसको विकसित करने में समर्थ हो जाते हैं तो हमारे जीवन की धारा अपने आप परिवर्तित हो जाती है। उसको परिवर्तित करने का निरन्तर प्रयत्न करें। मैंने आपसे प्रारम्भ में ही कहा कि गुणानुरागी बनिये और गुणों को प्रोत्साहन देना शुरू कर दीजिये। अपना बेटा अगर कुछ अच्छा कर रहा है तो प्रोत्साहित करिये। और फिर अड़ोस-पड़ोस के लोग कुछ अच्छा कर रहे हैं तो उनकी भी प्रशंसा कीजिये, उन्हें प्रोत्साहन दीजिये। अच्छा करने की सीख देने वाले व्यक्ति के लिये कभी भी कोई विरोधी खड़े नहीं होते। लेकिन हम लोग अच्छे को अच्छा कहने में बहुत सकुचाते हैं। बुरे को बुरा तो हम बहुत तेजी से कह देते हैं लेकिन अच्छे को अच्छा कहने के अभ्यासी नहीं बन पाते हैं। सम्यग्दृष्टि वही है जो अच्छे को अच्छा कहने में संकोच नहीं करता है। हम अच्छे को अच्छा कहने का अभ्यास बनायें। देखिये जीवन में कैसे आनन्द के पुष्प खिलते हैं।

सकारात्मक सोच, सकारात्मक परिणति

सम्यग्दर्शन के निर्विचिकित्सा अंग का यही लक्षण है। अपने नज़रिये को बदलिये। नकारात्मक सोच से अपने आपको बचाइये। वस्तु और व्यक्ति के प्रति जब तक हमारे अन्दर नकारात्मकता भरी रहती है तब तक हम कभी अच्छे परिणाम नहीं पा सकते हैं। अच्छे परिणाम पाने के लिये अच्छी सोच रखना ज़रूरी है और अच्छी सोच की अभिव्यक्ति ही सम्यक्त्व की निर्मल परिणति है। हम गुणीजनों के प्रति प्रेम करें, पर उसकी जगह द्वेष करते हैं। मेरी भावना में तो कहते ज़रूर हैं -

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।

लेकिन कितना प्रेम उमड़ता है यह तो भगवान ही जानता है। यदि प्रेम उमड़ रहा है तो तुम्हारे अन्दर के गुण विकसित हो रहे हैं और घृणा उमड़ रही है तो तुम्हारे गुण नष्ट हो रहे हैं।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छबाय

घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या भी लोग किससे करते हैं ? कभी आपने सुना कि किसी गुण्डे या बदमाश के प्रति ईर्ष्या हो रही हो ? किसी अपराधी के प्रति ईर्ष्या हो रही हो ? कभी सुना है कि किसी वेश्या से किसी को ईर्ष्या हो रही हो। नहीं सुना होगा। चोर, आतंकी, गुण्डा, बदमाश और वेश्या के प्रति किसी के मन में ईर्ष्या नहीं होती है। ईर्ष्या होगी किससे ? किसी साधु-परमात्मा से होगी। आपके अपने किसी भाई-बन्धु से होगी या किसी सती से होगी। अच्छे लोगों से ईर्ष्या होती है। बुरे लोगों से ईर्ष्या नहीं होती। अरे, अच्छे से अनुराग करना चाहिये और बुरे से दूरी बनाकर रखना चाहिये। हम लोग उल्टा कर देते हैं। इसलिये मैं अक्सर कहा करता हूँ कि **यदि तुम्हारा नया ईर्ष्यालु पैदा हुआ हो तो थोड़ा अपने अन्दर झाँक लेना जरूर तुम्हारे अन्दर कोई नया गुण प्रकट हुआ होगा।** अपने गुणों को प्रोत्साहित कीजिये, विकसित कीजिये। दूसरे के गुणों का आदर करना शुरू कीजिये तो हमारा जीवन महान होगा। ध्यान रखना, दूसरों के दोषदर्शन से हम अपने जीवन को विकसित नहीं कर सकते हैं। जितना-जितना हम दोष मूलक दृष्टि को बढ़ायेंगे, हमारे जीवन में उतना ही प्रदूषण फैलता जायेगा। गुण से गुण फैलते हैं और दोष रखने से जीवन दूषित होता है। जीवन को दूषित होने से हम बचायें और गुणों से मण्डित करने के लिये निरन्तर प्रतिबद्ध हो जायें, तो हमारे जीवन की सफलता का एक श्रेष्ठ आधार बनेगा।

निज हित सहित करें परहित को

आप लोग बाजार में जाते हैं। बाजार में बहुत सारा सामान लेना होता है, सैकड़ों प्रकार की दुकानें होती हैं, पर आपकी निगाहें उसी दुकान पर दौड़ती हैं, जिस दुकान से आपको सामान लेना है। यदि किसी को ज्वैलरी का आईटम लेना

है तो सीधे सर्राफ की दुकान देखेंगे। उसे किराने और जरनल आदि दूसरी दुकानों से प्रयोजन नहीं। सीधे सर्राफ की दुकान पर उसे पाओगे। सर्राफ की दुकान में जाने के बाद भी यदि उसे गले का हार लेना है तो उसकी दृष्टि हार पर होगी और अगर चूड़ियाँ खरीदनी हैं तो उसकी नज़र चूड़ियों पर होगी। मतलब जो खरीदना होता है उसी पर दृष्टि होती है। बाहर आप जैसी दृष्टि रखते हैं, भीतर भी वैसी ही दृष्टि रखिये। सम्यग्दृष्टि (गुणों का पुजारी) जब भी संसार के बाजार में निकलता है तो केवल गुण ही गुण देखता है। गुणों का अभिनन्दन करता है, गुणों का सत्कार करता है और आगे बढ़ता जाता है। किसी से कुछ लेना-देना नहीं रहता है। निरन्तर आगे बढ़ने की कोशिश करता है और दूसरों को भी आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है। लेकिन लोग ऐसा नहीं कर पाते हैं।

प्रतिस्पर्धा अच्छी है, प्रतिद्वन्द्विता बुरी

दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं - एक मछली की वृत्ति होती है और एक केकड़े की वृत्ति होती है। एक मछली दूसरी मछली से आगे निकल जाती है तो मछली में प्रतिस्पर्धा होती है और केकड़े में प्रतिद्वन्द्विता। किसी से आगे बढ़ने का भाव बुरा नहीं है, पर किसी को नीचे खींचने का प्रयत्न बहुत बुरा है। लोग आगे बढ़ना कम जानते हैं और दूसरों को पीछे खींचना ज्यादा जानते हैं। आज हमारे समाज की स्थिति मछली की तरह नहीं, केकड़े की तरह है। एक जगह तालाब के किनारे एक आदमी मछली मार रहा था। मछली मारने के लिये क्या किया ? एक टोकने में केकड़े पड़े हुये थे और टोकना खुला हुआ था। केकड़े बार-बार उसमें से उछल रहे थे। वहीं से एक राजनीतिशास्त्र का प्रोफेसर अपने कुछ छात्रों के साथ गुजर रहा था। छात्रों ने कहा - कैसा मूर्ख है, तालाब के किनारे बैठा है और टोकनी खुली हुई है। केकड़े तो छलाँग लगा करके तालाब में पुनः चले जायेंगे तो इसके हाथ में कुछ बचेगा ही नहीं। तब उस प्रोफेसर ने कहा - तुम नहीं जानते, ऐसा कभी नहीं होगा। छात्रों ने कहा - क्यों नहीं होगा ? ये केकड़ें हैं और पैदायशी राजनीतिक हैं। उन्होंने कहा - एक केकड़ा जब भी उछलता है तो चार केकड़ें उसकी टाँग खींच लेते

हैं। टाँग खींचने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा होती है इनमें। यह ओछी मानसिकता की निशानी है। हमारे यहाँ तो -

52

देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या भाव धरूँ।

की जगह **देख दूसरों की बढ़ती को हृदय में ईर्ष्या भाव धरूँ,** की भावना लोगों के मन में उत्पन्न होने लगी है, जो दूषित मनोवृत्ति का परिणाम है। ऐसी मनोवृत्ति से अपने आपको बचाइये। किसी के बढ़ने से यदि आपके मन में ईर्ष्या बढ़ती है तो उसका कुछ नहीं होगा। नुकसान आपको ही होगा।

तीली सबसे पहले जलती है

ध्यान रखना आदमी आग दूसरों के लिये लगाता है पर आग सबसे पहले उसे ही जलाती है, जहाँ वह लगती है। यदि तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या की आग पनपी है तो जिसके लिये तुमने आग लगाई है, हो सकता है वह बच भी जाये, पर तुम अपने आपको जलाने से नहीं बचा सकते हो। इसलिये उस **ईर्ष्या की आग को बुझाइये और प्रेम के बाग को खिलाइये।** निर्विचिकित्सा अंग हमें यही मार्गदर्शन देता है। ऐसा मार्गदर्शन यदि हमारे अन्तरंग में बढ़ता है तो निश्चित रूप से हम अपने जीवन को निहाल कर सकेंगे।

फैले प्रेम परस्पर जग में

बन्धुओ, हम तो यही चाहते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेम हो। घर-परिवार में प्रेम हो। समाज में प्रेम हो, देश में प्रेम हो, सर्वत्र केवल प्रेम ही प्रेम हो, क्योंकि प्रेम में ही शान्ति है। प्रेम में ही सौहार्द है। सौहार्द का मतलब यही है कि प्रेम मूलक जीवन जीना और सबके हृदय को प्रेम से भरना। यही हमारे जीवन की उपलब्धि है। यदि ऐसा करने में हम सफल होते हैं तो बेशक हम अपने जीवन में कामयाबी प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। यदि ऐसा नहीं कर पाते हैं तो हम अपने जीवन में बहुत पिछड़े हुये हैं। हम अपने आपको बढ़ाने की, निरन्तर बढ़ाने की कोशिश करें। प्रेम से अपने आपको निरन्तर भरने की कोशिश करें। हम सम्यग्दर्शन के अन्य अंगों की चर्चा करेंगे, तब भी हम इन सब बातों की विस्तृत चर्चा करेंगे। आज जो बात मैंने

आपसे कही है उसमें सार संक्षेप में दो-तीन बिन्दुओं को ध्यान में रखें, ताकि यहाँ से घर जाने के बाद भी आपको याद रहे।

पहली बात तो यह है कि हम देहदृष्टि न रख करके आत्मदृष्टि रखें। किसी के शरीर की अशुचिता और अपवित्रता का उपहास न करें। जहाँ तक हो सके तो उनकी सेवा करके अपने जीवन को धन्य करने की कोशिश करें। यह निर्विचिकित्सा अंग का व्यावहारिक रूप है। सेवा-सुश्रुषा के क्षेत्र में हम आगे आयें। हमारे घर में यदि किसी को सेवा की आवश्यकता है तो नर्सें तो हम लगा देते हैं, पर हमारे पास सेवा करने का समय नहीं है। अरे, जिसने तुम्हारा मलमूत्र साफ किया, जिसने तुम्हें नौ माह तक अपने गर्भ में धारण किया, उस माँ की सेवा करने के लिये यदि तुम्हें नर्सें लगानी पड़ रही है तो यह तुम्हारे लिये नालायकी जैसी बात है। उनकी सेवा करके उनके सारे ऋणों से निवृत्त होने का भाव रखना चाहिये। हम उनकी सेवा करें। घर में सेवा करेंगे तो बाहर भी हमारी सेवा करने की मनोवृत्ति होगी और हम अपने जीवन को धन्य करने में सफल होंगे। दूसरी बात, हम गुणधारकों के गुणों का आदर करना शुरू करें। कभी किसी की आलोचना हम खुले तौर पर न करें। जहाँ तक बन सके सबके अच्छे की बात हम करें। हम यह कोशिश करें कि किसी से हमारे विद्वेष सम्बन्ध बनते हैं तो वह हमारे जीवन के लिये कॉटा बनता है और यदि किसी एक से भी हम प्रेम पूर्ण सम्बन्ध बनाते हैं तो हमारे लिये एक फूल बनता है। बन्धुओ, आज तक हमारा जीवन कंटकादि मय रहा है, अब हम उसे पुष्पित करने का प्रयास करें। सब चीज़ें हमारे हाथ में हैं। बस थोड़ा-सा हम अपने अभिमान को गौण कर दें। वस्तुतः मन में तो ये बातें आती हैं, पर जब हमारे अन्दर का अहं आड़े आ जाता है तब भीतर की सरलता नष्ट हो जाती है, सात्त्विकता समाप्त हो जाती है। वह हमारी सोच को ही बदल देता है। ऐसा करूँगा तो कैसा होगा, और ऐसा करूँगा तो कैसा होगा ? यह दुर्बलतायें हैं, जिनके शिकार हम अनन्त जन्मों से बनते आये हैं। इन दुर्बलताओं को हम दूर करें, और यह हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। यह उपलब्धि हमारे हृदय में घटित हो ऐसी भावना के साथ आज मैं अपनी वाणी को विराम दे रहा हूँ।

गया १३-०३-०७

पुजारी बनो, भिखारी नहीं

सद्गुरु की कृपा : मूढ़ता से मुक्ति

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि का मतलब है ज्ञान सम्पन्न दृष्टि की उपलब्धि होना। सम्यग्दृष्टि जीवन की वास्तविकता को भली-भाँति जानता है। उसके पास सही समझ और सही दृष्टि विकसित हो जाती है और यही कारण है कि अपने जीवन व्यवहार में वह बहुत साफ-सुथरी प्रवृत्ति को अपनाता है। वह सब प्रकार की आध्यात्मिक बुराइयों और दुर्बलताओं से मुक्ति के अभियान में जुटा होता है। धर्म के सन्दर्भ में उसकी समझ स्पष्ट होती है। धर्म के रूप में वह केवल उन्हीं बातों को स्थान देता है, जिनका आत्महित से सम्बन्ध हो। वह उन तमाम बातों से दूर रहता है, जो आत्महित में बाधक हों। वह स्पष्ट जानता है कि धर्म वही है जो हमारी आत्म-मलीनता को दूर करे। जिन क्रियाओं और प्रवृत्तियों में आत्मा का कोई शोधन न हो उनसे वह कोई मतलब नहीं रखता है। उसकी पूजा-आराधना भी वहीं तक सीमित रहती है जो उसकी आत्मशुद्धि में सहायक हो। जो उसके विचारों को निर्मल बनाने में सहायक हो। जो उसके मन को पवित्र बनाने में सहायक हो। वस्तुतः वही धर्म के रूप में स्वीकारने योग्य है, जिन बातों का आत्मा की शुद्धि से कोई सम्बन्ध हो। उन सब बातों को धर्म के क्षेत्र में अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं, जिनका आत्मशुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये वह एकदम साफ-सुथरी दृष्टि रखता है। वह उन तमाम बातों को मूढ़ता के रूप में स्वीकार करता है, जिनका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसीलिये उसको अमूढ़दृष्टि कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन का चौथा अंग है। अमूढ़दृष्टि का मतलब है अपनी दृष्टि को कहीं से भी मूढ़ नहीं होने देना। सम्यग्दृष्टि अपनी अविचल दृष्टि रखता है। वह कभी किसी के प्रभाव में नहीं आता है। वह अपनी आत्मा से प्रभावित होता है। वह

अपने प्रभु से प्रभावित होता है और उसकी आत्मा और प्रभु के अलावा संसार में उसको प्रभावित करने में कोई सफल नहीं हो पाता है। यही उसकी अमूढ़दृष्टिता है।

फर्क मूर्खता और मूढ़ता में

बन्धुओ, दो शब्द हैं - मूढ़ता और मूर्खता। संसार के अधिसंख्य प्राणी मूढ़ हैं। मूढ़ होने का मतलब अज्ञानी होना है। संसार के बहुत से प्राणी अज्ञान की भूमिका में जीते हैं। सम्यग्दृष्टि परम ज्ञान सम्पन्न होता है, इसलिये उसके अन्तरंग में ऐसी कोई बात नहीं होती है जो उसे अज्ञानी की तरह बना सके। वह ज्ञान को प्राप्त हो गया है। जहाँ प्रकाश की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, वहाँ अन्धकार नहीं होता है। वैसे ही जहाँ ज्ञान प्रस्फुटित हो जाता है वहाँ अज्ञान कुछ नहीं कर सकता है। वह ज्ञान सम्पन्न होने के कारण तमाम प्रकार की मूढ़ताओं से रहित होता है।

संसार में दो प्रकार के लोग हैं - कुछ लोग मूर्ख हैं, कुछ लोग विद्वान् हैं। मूर्खता और मूढ़ता, दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। मूर्ख व्यक्ति पढ़-लिखकर विद्वान हो सकता है। पर यह कोई ज़रूरी नहीं कि मूढ़ आदमी ज्ञानी बन जाये। मूढ़ से ज्ञानी होना अलग बात है और मूर्ख से ज्ञानी होना अलग बात है। हमारे जितने भी विद्या के केन्द्र हैं, वहाँ पढ़-लिखकर आदमी मूर्ख से विद्वान् बन सकता है। लेकिन मूढ़ से ज्ञानी होने का मतलब है अन्तर की प्रज्ञा को उद्घाटित कर लेना। अपने अन्तर और बाह्य स्वरूप को समझ लेना। स्वयं से स्वयं की पहचान कर लेना।

दुनिया में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो विद्वान तो नहीं हैं, पर मूढ़ हैं और ऐसे भी लोग हैं, जो अविद्वान तो हैं, पर ज्ञानी हैं। नासमझ व्यक्ति भी ज्ञानी हो सकता है और समझदार व्यक्ति भी अज्ञानी हो सकता है। दुनिया में ऐसे बहुत से अँगूठा छाप लोग हुये हैं, जिनके ज्ञान से आज लोगों का पथ-प्रशस्त हो रहा है। जिन्होंने न केवल अपने आत्मज्ञान के बल पर स्वकल्याण किया, बल्कि जगत् के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर गये। बहुत सारे ऐसे भी लोग हैं जो कहने को बड़े-बड़े विद्वान के रूप में जाने जाते हैं, लेकिन फिर भी वे स्वयं आत्मज्ञान से शून्य रहे हैं। इसलिये बन्धुओ, दो शब्दों को हम ध्यान में रखें - मूढ़ता और मूर्खता।

सद्गुरु की कृपा : मूढ़ता से मुक्ति

मूर्खता को दूर करना बहुत सहज है, पर मूढ़ता को दूर करना बहुत कठिन है। तुम्हारे अन्दर की मूर्खता को तुम्हारे ये विद्या केन्द्र दूर कर सकते हैं, पर भीतर की मूर्खता को केवल कोई सद्गुरु ही दूर कर सकता है। मूढ़ से ज्ञानी बनाने का मार्ग केवल सद्गुरु सिखाते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा उस सद्गुरु की कृपा से सही बोध प्राप्त कर लेता है तो उसके अन्दर किसी भी प्रकार की मूढ़ता अवशिष्ट नहीं रहती है। वह उन सबसे मुक्त होकर चलता है।

मूढ़बुद्धि कैसी होती है ?

दो प्रकार की मूढ़ता हमारे जीवन में आती है - एक आध्यात्मिक मूढ़ता और दूसरी उपासनागत मूढ़ता। सम्यग्दृष्टि आध्यात्मिक मूढ़ता और उपासनागत मूढ़ता, इन दोनों प्रकार की मूढ़ताओं से परे रहता है। आध्यात्मिक मूढ़ता का अर्थ है अपने आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहना, शरीर में आत्मबुद्धि रखना और शरीर को आदि लेकर के जगत् के सभी पदार्थों में ममत्व का भाव रखना। यह हमारी मूढ़ता है। संसार के सभी प्राणी मूढ़ हैं। वे कहते हैं - शरीर मेरा है, यह सम्पत्ति मेरी है। यह मकान मेरा है, यह दुकान मेरी है। यह स्वत्व और स्वामित्व की जितनी भी चीज़ें हैं वे सब मेरी हैं। रात-दिन आदमी शरीर में, सम्पत्ति में, सम्बन्धों में, यह कहना शुरू कर देता है कि ये मेरी हैं। सन्त कहते हैं - जिनको तुम मेरी-मेरी कहते हो, थोड़ा विचार करो, कि वे तुम्हारे होने को राजी हैं भी या नहीं। वे तुम्हारी हो सकती हैं कि नहीं। आप कहते हो कि ये मकान मेरा है। कभी तुम्हारे मकान ने तुमसे कहा कि मैं तुम्हारा हूँ। जिन चीज़ों को हम अपना कहते हैं, कभी उन्होंने कहा कि वे तुम्हारे हैं? यह सब तुम्हारे हैं भी नहीं, और हो भी नहीं सकते। फिर भी उसे अपना मानना यही तो मूढ़ता है।

जो मेरे नहीं हैं, उन्हें अपना मानना मूढ़ता है। पराई सम्पत्ति को अपना घोषित कर देना मूढ़ता नहीं तो और क्या है। किसी व्यक्ति से कहा जाय कि मेरे एक लाख रूपये रखो। मैं थोड़ी देर के बाद ले लूँगा। वह आदमी अपने आपको

लखपति मानने लगे तो आप उसको क्या कहेंगे ? किसी ने रूपया उसको कुछ काल के लिये ही दिया है और कहा आता हूँ, सो ले जाऊँगा। फिर भी वह उसे अपना समझे तो इससे बड़ी मूढ़ता तो हो नहीं सकती है। संसार में जितनी चीज़ें हमें प्राप्त हुई हैं वे कर्म के संयोग से कुछ काल के लिये हमें प्राप्त हुई हैं और जैसे ही संयोग परिवर्तित होता है वे सब चीज़ें हमारे हाथ से चली जाती हैं।

जगत् का एक भी संयोग स्थायी नहीं है। पर हमारी मूढ़बुद्धि उन्हें स्थायी मान लेती है और हम अपने को उनका स्वामी मानने का भ्रम पाल लेते हैं। ये चीज़ें मेरी हैं। इसी का नाम तो मूढ़ता है। यह मूढ़ता जब तक दूर नहीं होती, तब तक सम्यक्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि इस हकीकत को जानता है कि संसार में मेरे आसपास जितनी भी चीज़ें जुड़ी हुई हैं वे मेरे इर्द-गिर्द ज़रूर जुड़ी हैं पर मेरी नहीं हैं। और दूसरों की भी नहीं हैं। संसार की हर वस्तु और संसार का हर व्यक्ति अपना है और किसी का नहीं है। सब चीज़ें अपनी हैं, किसी की हैं ही नहीं। न हैं, न हो सकती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द हमारी मूढ़मती का उद्घाटन करते हुये कहते हैं, कि मूढ़मती व्यक्ति कैसा होता है ? -

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥

आसि मम पुव्वमेदं, एदस्स अहं आसि पुव्वम्हि।
होहिदि पुणो वि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि॥

एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥ २०-२२ ॥ समयसार

यह मेरा है, मैं इसका हूँ, पूर्व काल में मैं ऐसा था। ये भविष्य में मेरा होगा और मैं इसका होऊँगा। इस तरह के मन का जो असम्भूत विषय है वह केवल मूढ़मति के मन में उत्पन्न होता है। मैं इसका पिता हूँ, यह मेरा बेटा है। यह चाहे चेतन हो, अचेतन हो अथवा चेतनाचेतन हो, दुनिया के किसी भी व्यक्ति अथवा किसी भी वस्तु के प्रति मैं और मेरेपन के भाव का नाम ही मूढ़ता है और यह जब तक हृदय

में विद्यमान रहेगी तब तक सम्यक्त्व की ज्योति प्रकट नहीं हो सकती है। ये मेरे नहीं हैं, अन्तरंग से इस प्रतीति का नाम ही अमूढ़दृष्टित्व की उपलब्धि है।

जा वसुधा काहू की ना भई

सम्यग्दृष्टि इस रहस्य को जानता है। मैं कहता हूँ, मेरा है, मेरे बाप-दादा भी कहते थे कि मेरा है, पर जो-जो कहता थे कि मेरा है, वे सब लोग चले गये और चीज़ें वहीं की वहीं हैं। आज तुम कह रहे हो कि मकान मेरा है, कल तुम्हारे बेटे कहेंगे कि मकान मेरा है, परसों तुम्हारे पोते कहेंगे कि मकान मेरा है। लेकिन न तुम रहोगे, न तुम्हारा बेटा रहेगा और न तुम्हारे पोते रहेंगे। जबकि मकान जहाँ का तहाँ खड़ा रहेगा। फिर किससे कहें कि मकान तुम्हारा है। जो तुम्हारा है वह तुम्हारे भीतर है और जो बाहर है वह तुम्हारा हो नहीं सकता है। इस बोध को प्राप्त होने वाला व्यक्ति ही सम्यक्त्व से आविर्भूत होने का सौभाग्य प्राप्त करता है। उसके भीतर ही सम्यक्त्व प्रकट हो पाता है।

हम भटक रहे अपने अज्ञान से

इसे पहचानें कि बाहर की कोई भी चीज़ मेरी नहीं है, यह अन्दर से श्रद्धान बन जाये। ममत्व से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ जा सकता है, यह मैं मानता हूँ लेकिन अपनी मान्यता के ममत्व को तो हटाया जा सकता है। धारणा तो ऐसी बन जाये कि यह शरीर ही मेरा नहीं है तो संसार की अन्य वस्तुएँ मेरी कैसे हो सकती हैं ? आज तक अज्ञानता से अभिशप्त होकर मैं पर-पदार्थों को अपना मानता रहा हूँ और इसलिये संसार में भटका हूँ। यही मेरे बन्धन का कारण है। आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं -

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥ इष्टोपदेश

यह संसारी प्राणी अपनी ममता के कारण बन्धन को प्राप्त होता है और ममत्व को त्यागने से मुक्त हो जाता है। इस रहस्य को जानो और अपने अन्दर

पलने वाले ममत्व का उन्मूलन करो। यदि तुम्हारे मन की ममता नष्ट हो गयी तो फिर तुमसे बड़ा सुखी संसार में कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि ममता में ही बन्धन है और बन्धन में ही दु:ख है। सच्चे अर्थों में मन की ममता ही हमें दु:खी करती है।

ममता का विसर्जन : समता का आविर्भाव

जब मनुष्य के अन्दर उस ममता का विसर्जन हो जाता है तब समता का आविर्भाव होता है और उसी समता का नाम परम सुख है। कम से कम अपनी श्रद्धा में इस बात को स्थापित कर लेने की आवश्यकता है। जिस मनुष्य के अन्तरंग में ऐसी श्रद्धा बलवान हो जाती है उसका जीवन निहाल हो जाता है। सम्यग्दृष्टि में ऐसी कोई मूढ़ता नहीं होती। अपनी आत्मा के विषय में उसकी समझ एकदम स्पष्ट होती है। वह जानता है कि ये सब चीज़ें एक संयोग हैं। मेरी नहीं हैं। और हो भी नहीं सकती हैं। अब तक मैं अपनी भ्रमपूर्ण मान्यता के कारण इनमें विमुग्ध हो रहा था लेकिन अब मैंने वास्तविकता को जान लिया। अब मैं कभी भी इस तरफ देख नहीं सकता हूँ। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द अमूढ़दृष्टित्व का स्वरूप बताते हुये कहते हैं -

जो हवइ असंमूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥ समयसार

जो संसार के संयोगों में मूढ़ नहीं बनता है, वही अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वी है।

प्राप्त करें अपनी प्रज्ञा को

हम बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। ध्यान रखना पर से प्रभावित दृष्टि का नाम मूढ़ता है और स्वयं में भावित दृष्टि का नाम अमूढ़ता है। सम्यग्दृष्टि पर से प्रभावित नहीं होता, अपितु स्वयं से भावित होता है। अभी तक हम पर से प्रभावित हो रहे हैं। चाहे व्यक्ति हो या वस्तु, ये हमें बहुत ज़ल्दी अपनी ओर खींच लेती हैं। लेकिन जब हम स्वयं में भावित होंगे तो पर का प्रभाव अपने आप खत्म हो जायेगा। फिर हमें संसार का बड़े-से-बड़ा आकर्षण भी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पायेगा। उस दृष्टि को प्राप्त करें। उसी दृष्टि की उपलब्धि का नाम प्रज्ञा की उपलब्धि है। और

प्रज्ञा हमारे भीतर का सम्यक्त्व है, उसको प्राप्त करें। जैसे दीपक की निर्वात शिखा हमेशा निष्कम्प रहती है। वैसे ही अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वी हमेशा अविचल बना रहता है। दुनिया की कोई ताकत उसकी श्रद्धा को हिला नहीं सकती है। उसकी मान्यता को प्रभावित नहीं कर सकती है। इस तरह आध्यात्मिक मूढ़ता से अपने आपको बचायें। लेकिन क्या करें, संसार के सारे प्राणी मूढ़दृष्टि हैं और ऐसे मूढ़दृष्टियों के सामने कभी-कभी दृष्टि सम्पन्न लोगों को बहुत दिक्कत हो जाती है। मूढ़ों के बीच में कोई समझदार चला जाये तो उसे बहुत दिक्कत होती है।

अन्धों की बस्ती में रोशनी की झालरें ?

एक बार एक आदमी ऐसी बस्ती में गया जहाँ केवल अन्धे लोग बसते थे। बस्ती बहुत सुन्दर थी। लेकिन वहाँ रहने वाले सारे के सारे लोग अन्धे थे। उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। अरे वाह ! इतनी अच्छी हरियाली, इतनी सुन्दर हरीतिमा। प्रकृति का रोम-रोम जहाँ प्रफुल्लित हो रहा है, बासन्ती छटा सर्वत्र छाई हुई है। ऐसी प्राकृतिक सुन्दरता देखकर उसका मन बहुत आनन्दित हो उठा। उसने सोचा कि अरे दुनिया का स्वर्ग तो इसी धरती पर बसता है। प्रकृति का इतना सुन्दर रूप संसार में मैंने कहीं भी नहीं देखा। लेकिन ये लोग कितने अभागे हैं कि ये ऐसी स्वर्ग सी सुन्दर घाटी में रहकर भी आँखों के अभाव में उसका दर्शन नहीं कर पा रहे हैं। वह लोगों के पास गया। उपदेश देना शुरू किया। बोला - आप लोग कितने भाग्यशाली हो कि इतनी सुन्दर घाटी में रहते हो, जहाँ इतनी सुन्दर-सुन्दर चीज़ें प्रकृति ने दे रखी हैं। काश आप लोग इस छवि को देख पाते। लोगों ने कहा - क्या बकवास करते हो ? हम नहीं जानते कि हरियाली क्या होती है, ये फूल क्या होते हैं ? यह पागलपन की बातें मत करो। हम ज़िन्दगी से यहाँ रहते आ रहे हैं। हमें आज तक ऐसा कोई फूल समझ में नहीं आया। हम तो आज तक जो देखते आये हैं, उसी को स्वीकार करेंगे। उसने कहा - नहीं भैया, ऐसी बात नहीं है। ये सब चीज़ें हैं। मेरी आँखों से दिख रही हैं। अन्धे लोगों ने कहा - लगता है तुम पगला गये हो। एक पागल आदमी को दूसरा समझदार आदमी भी पागल ही दिखाई देता है। पागलों

के बीच यदि कोई समझदार चला जाये तो समझदार को भी वे पागल बना डालते हैं। अन्धों ने कहा - ये सब कुछ नहीं है। ये सब बकवास की चीज़ें हैं। अब उसके मन में तो उस घाटी में बसने का मन आ गया था, कि मैं यदि यहाँ रहूँ तो इससे ज़्यादा आनन्द क्या होगा ? लेकिन जब वह वहाँ रहने लगा तो बस्ती के लोगों ने पंचायत की और कहा कि यह आदमी फालतू की बातें करता है, यह पागल हो गया है। कहता है कि मेरे पास आँखें हैं, मुझे सब दिखता है। पता नहीं यह आँखें क्या चीज़ हैं जो आदमी को पागल बना देती हैं। सबने मिलकर यह प्रस्ताव पारित कर लिया कि यह आदमी यहाँ तभी रहेगा जब इसकी आँखें निकाल दी जायेंगी। उसके आँखों को निकालने के लिये ऑपरेशन की तैयारी कर ली गई। उस आदमी को मालूम हुआ तो वह सोचता है कि बुरे फँसे। अरे, जिस सौन्दर्य के दर्शन के लोभ में इस बस्ती में रह रहा हूं, जब आँखें ही चली जायेंगी और सौन्दर्य नहीं दिखेगा तो यहाँ रहने से क्या फायदा ? वह जान बचाकर भागा।

यही स्थिति होती है लोगों की। जब हम लोग आत्मा-आत्मा की बातें अज्ञानियों के बीच करते हैं तो लोग कहते हैं - महाराज आप भी कहाँ हाथ धोकर पीछे पड़ गये। अरे महाराज, आप क्या जानें ? आपने तो दुनिया देखी ही नहीं। बन्धुओ, यही अज्ञान है। अन्धों को अगर उपदेश दिया जायेगा तो यही हाल होगा। इसलिये हम अन्धों को उपदेश नहीं देते, आँखें देना चाहते हैं। यदि अन्धों को ऑख प्रकट हो जाये तो वे पूरी की पूरी हरीतिमा का आनन्द स्वयं ही ले सकते हैं।

आध्यात्मिक मूढ़ता

बन्धुओ, वह आँख हमें स्वयं प्रकट करनी होगी। जिस दिन यह दृष्टि हमारे भीतर प्रकट हो जायेगी, फिर तुम्हें उपदेश की ज्यादा आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जब तक तुम इस दृष्टि से सम्पन्न नहीं होते हो तब तक तुम्हें कितना भी उपदेश सुनाया जाय तुम्हें असर नहीं होगा। उस दृष्टि को प्राप्त करने का नाम ही अमूढ़दृष्टित्व को प्राप्त करना है। यह तो आध्यात्मिक मूढ़ता की बात हुई। उसको दूर कीजिये। अपने अन्तरंग में यह बात स्थापित कीजिये कि इन सबके बीच में मैं हूँ ज़रूर, पर मेरी

स्वतन्त्र सत्ता है। मैं सबसे भिन्न हूँ, अलग हूँ, अकेला हूँ और अनोखा हूँ। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। उनसे मेरा कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो मैं, दुनिया के और जितने भी लोग हैं वे भी वे हैं। ये सब मेरे नहीं और मैं उनका नहीं हूँ। यह दृढ़ धारणा सम्यग्दृष्टि की बन जाती है। इसी कारण वह सबके बीच रहकर केवल स्वयं में रमने की क्षमता अर्जित कर लेता है। यही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

उपासनागत मूढ़ता

दूसरे प्रकार की मूढ़ता है उपासनागत मूढ़ता। पूजा, उपासना, आराधना सम्यक्त्वी का एक गुण है। पूज्य पुरुषों की आराधना से हमारे गुणों का विकास होता है। पूज्य की उपासना से हमारे अन्दर पूज्यता आती है। हमारी उपासना और पूजा का मूल मकसद यही है। हम कहते हैं कि **वन्दे तद्गुणलब्धये।** हे भगवन्, चरणों में मैं प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ, क्योंकि आपको प्रणाम कर मैं आपके गुणों को प्राप्त करना चाहता हूँ। जैनदर्शन में व्यक्ति की पूजा को स्थान नहीं है। गुणों की पूजा को स्थान दिया गया है। वीतराग प्रभु गुणसम्पन्न आत्मा हैं, इसलिये वीतराग की वन्दना से हमारे अन्दर वीतरागता के संस्कार प्रकट होते हैं। और यही वीतरागता का संस्कार समय पाकर हमारे अन्दर वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करता है।

सम्यग्दृष्टि का जीवन क्रम

केवल इसी पावन प्रेरणा से भर करके एक सम्यग्दृष्टि जीव भगवान के चरणों में नित्य वन्दना करता है। वह पूजा, आराधना और तमाम प्रकार की आराधनायें तभी करता है जब उसका सम्बन्ध उसके हित से हो, उसकी आत्मा की शुद्धि से हो। जिन क्रियाओं का सम्बन्ध आत्मशुद्धि से नहीं हो और जो आत्महित में साधक नहीं हों, उनको वह भूलकर भी स्वीकार नहीं करता है। धर्म के नाम पर तो उन्हें कतई स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि आत्मा की शुद्धि के अनुष्ठान का नाम धर्म है और जिसमें आत्मा की शुद्धि न हो उसका नाम अधर्म है। अधर्म को धर्म रूप में वह कैसे स्वीकार कर सकता है ?

वीतराग से वित्त की आशा ?

लेकिन आज हमारे देश में धर्म के नाम पर वह सब कुछ होता है जिसका धर्म से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसी को मूढ़ता बोलते हैं। कई प्रकार की मूढ़तायें लोगों के द्वारा सम्पादित होती रहती हैं। ऐसी प्रवृत्ति लोगों की हो गई है। एक व्यक्ति है जो धर्म करता है धर्म की भावना से, और दूसरा व्यक्ति है जो धर्म करता है सांसारिक विभूतियों को पाने के लिये। इन दोनों में बड़ा अन्तर है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं - एक तो तूने धर्म किया नहीं, और कदाचित् धर्म किया भी तो तेरी ऐसी दुर्बलता रही कि धर्म से भी तूने वही चाहा, जो आज तक सांसारिक वस्तुओं से चाहता रहा है। प्रभु के दरबार में आकर भी संसार की कामना कर रहा है। **धम्मं भोगणिमित्तं** धर्म को करते हुये भी भोग और वासना की आकांक्षा तेरे अन्दर है। तेरे अन्दर अभी सही समझ नहीं आई है। तू भगवान की पूजा करने आया है तो किसलिये आया है ? अगर तू भगवान की पूजा करके संसार के सुखों की कामना कर रहा है तो इसका मतलब तूने अपने अन्दर की भगवत्ता को पहचाना नहीं है। भगवान के दरबार में आकर भी तू भिखारी ही बना हुआ है। तो इसका मतलब तूने अपने आपको जाना नहीं है। ध्यान रखना, भगवान के चरणों में भिखारी बनकर आने वाला अपना उद्धार नहीं कर सकता। भगवान कहते हैं कि - तू भिखारी नहीं, अधिकारी है। जो मेरे में है, वह तेरे में भी है। लेकिन जब तक तू ऐसा ही दीन-हीन बना रहेगा तब तक तू अपना उद्धार नहीं कर सकता है।

छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को पहचानता है। वह जानता है कि भगवान में और मुझमें अन्य कोई अन्तर नहीं है। अन्तर यदि है तो वह मेरे अज्ञान का है। मैं अपने राग-रंग में इस तरह उलझता रहा कि अपने स्वरूप को नहीं जान पाया। आज आपके समक्ष आने के बाद मुझे अपने भीतर के वैभव का ज्ञान हो गया है। जिस वैभव के आगे संसार का कोई वैभव काम नहीं करता है। मैं क्या माँगूँ ? सब तुच्छ चीज़ें हैं। उसकी सारी मान्यतायें ही खत्म हो जाती हैं। यदि वह भगवान के

चरणों में आता है तो केवल भगवत्ता की कामना करता है। बाकी चीज़ों की नहीं। और बन्धुओ, जब हम पेड़ के नीचे जाते हैं तो छाया माँगने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। छाया तो अपने आप ही मिल जाती है। वे लोग बड़े मूर्ख हैं जो पेड़ के पास जाकर उससे छाया माँगते हैं। उन्होंने पेड़ को अभी सही ढंग से पहचाना ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि मूढ़ नहीं ज्ञानी होता है। वह ऐसी मूर्खता करता नहीं है। वह भगवान के पास जाता है केवल अपनी विशुद्धि बढ़ाने के लिये। अपने मन को पवित्र बनाने के लिये और ध्यान रखना, कि भगवान की कृपा का फल केवल उन्हें ही मिलता है, जो भगवत्ता को प्रणाम करते हैं और भगवत्ता की कामना रखते हैं। दुनिया की चीज़ों में उलझ जाने वाले लोग भगवान की कृपा से सदैव वंचित रहते हैं। वे उसका लाभ नहीं ले पाते हैं।

अन्तस् की आँखें

एक सेठ भगवान के मन्दिर में प्रतिदिन बड़े-बड़े थाल लेकर पूजा करने के लिये जाया करता था और उसी मन्दिर में एक अन्धा भी दर्शन को जाता था। उसकी आँखें न होने के बाद भी वह भगवान् की भक्ति पूरे मनोयोग से करता था। सेठ देखता था कि इसकी आँखें ही नहीं हैं, फिर यह क्या पूजा-भक्ति करेगा ? मैं तो इतनी अधिक पूजा-भक्ति करता हूँ। सेठ जी को अपनी पूजा-भक्ति का बड़ा अहंकार था कि मुझसे बड़ा पुजारी इस संसार में कोई दूसरा है ही नहीं। उस अन्धे को वह सेठ बहुत साधारण-सा व्यक्ति मानता था। एक दिन सेठ को आने में कुछ विलम्ब हुआ। अन्धा सेठ से पहले पहुँच गया। सेठ यह देखकर स्तब्ध रह गया कि भगवान की प्रतिमा अन्धे से बातें कर रही है, कि तू अंधा है और रोज़ दर्शन को आता है, तुझे रास्ते में बहुत तकलीफ होती है, क्योंकि तेरी आँखें नहीं हैं। तू एक काम कर मेरी आँखें निकाल कर अपनी आँखों में लगा ले। तुझे दिखने लगेगा। उस अन्धे ने कहा - प्रभु, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं है। आपकी दृष्टि मुझ पर पड़ती रहे। बस मैं इसी में धन्य हो रहा हूँ। मैं बिना आँख के भी आपको देख लेता हूँ। मेरा जीवन धन्य है।

पुजारी बनो, भिखारी नहीं

सेठ ने यह सब सुना। अन्धा तो वहाँ से चला गया। भगवान का आशीर्वाद मिला और उसे सब कुछ दिखने लगा। सेठ को यह बड़ा नागवार गुजरा। वह सीधे जाकर भगवान से शिकायत करने लगा कि भगवान मैं आपकी रोज़ इतनी बड़ी पूजा करता हूँ। आपने आज तक मुझसे बात नहीं की और उस अन्धे को आप अपनी आँखें तक देने को तैयार हो गये। यह तो पक्षपात है। तब भगवान ने कहा - सेठ, मैं पुजारी से प्रसन्न होता हूँ, भिखारी से नहीं। तुम मेरी पूजा ज़रूर करते हो, पर पुजारी के रूप में नहीं, भिखारी के रूप में आते हो और तुम्हारा चित्त हमेशा याचक का होता है। वह अन्धा व्यक्ति केवल पुजारी बनकर आता है। मैंने उसे आँखें देने का भी प्रस्ताव किया तो उसने स्वीकार नहीं किया। विचार करना, तुम भिखारी बनकर भगवान के दरबार में जाते हो या पुजारी बनकर ? जो भिखारी बनकर भगवान के दरबार में जाता है वह मूढ़ है और जो पुजारी बनकर जाता है वह ज्ञानी है। पुजारी बनो, भिखारी नहीं।

बीत्यौ अनन्तो काल पर छूटी नहीं यह मूढ़ता

हम क्या हैं यह देखें। यह मूढ़ता छूटे। कहते हैं कि अन्धे को कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। ऐसे ही मूढ़ व्यक्ति को कुछ सूझता नहीं है। जब मूढ़ता खत्म होगी तो सूझेगा। उसमें क्या कल्याण है क्या अकल्याण है, उसकी समझ से यह परे रहता है। उसकी बुद्धि और विवेक खो जाता है। वह कुछ कर ही नहीं पाता है। इस तरह की मूढ़ता से अपने आपको बचाइये। यदि हम भगवान की आराधना करें तो विशुद्ध भावों से परमात्मा की आराधना करें। जो विशुद्ध भावों से भरकर परमात्मा की आराधना करता है वह परमात्मा का कृपा पात्र बन जाता है। अरे, ज़्यादा क्या कहें, वह खुद परमात्मा हो जाता है और जिसकी आराधना में विकृति रहती है वह संसार में रुलता रहता है। अनन्तकाल से हमारे साथ ऐसा ही हो रहा है। हम ऐसी आध्यात्मिक मूढ़ता और अपनी उपासना की मूढ़ता में उलझे रहे हैं कि हमारा चित्त आज तक सुलझ नहीं पाया। हम अपने जीवन के कल्याण के मार्ग को प्रशस्त नहीं कर पाये।

सन्त कहते हैं - आज तुम्हारे अन्दर समझ जगी है तो कम से कम सही समझ जाओ। अब तो अपने रास्ते को ठीक ढंग से अपनालो।

अमूढ़ता की शास्त्रीय परिभाषा

आचार्य समन्तभद्र महाराज अमूढ़दृष्टित्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

कापथे पथि दु:खानां, कापथस्थेऽप्यसम्मति: ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्ति-रमूढादृष्टिरुच्यते ॥ रत्नकरण्ड श्रावका.

सम्यग्दृष्टि सन्मार्ग का उपासक होता है। उसने सन्मार्ग को एक बार में ही पहचान लिया तो फिर दूसरे मार्ग की तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होती है। मैंने एक बार पंचगुरुओं की शरण को प्राप्त कर लिया है। अब मुझे किसी की ज़रूरत नहीं है। कुमार्ग पर चलने वाले लोगों को देखकर न उनकी प्रशंसा करना और न उनकी निन्दा करना इसी का नाम अमूढ़दृष्टि है। मैंने जो एक मार्ग पकड़ लिया यही सच्चा मार्ग है। बाकी सब का सब झूठा है। मुझे उनसे कोई सरोकार नहीं है। मैं इसी मार्ग से अपनी मंजिल तक पहुँचूगा और केवल यही मार्ग हमें हमारी मंजिल तक पहुँचा सकता है। इस दृढ़ धारणा का नाम अमूढ़दृष्टित्व है। इसके अलावा और कोई मार्ग नहीं है। लेकिन कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अपने मार्ग से बहुत जल्दी भटक जाते हैं। दुनिया में बहुत सारे ऐसे लोग हैं कि गंगा गये तो गंगादास और जमुना गये तो जमुनादास। जिनकी अपनी कोई एक सुनिश्चित धारणा नहीं। ऐसे लोग अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं।

वीतराग भेटचो अबै

मेरा कल्याण किसमें है इसे समझो। हम किसका कल्याण करना चाहते हैं ? हम धर्म की आराधना कर रहे हैं तो हमारी धर्माराधना का मूल उद्देश्य क्या है ? अपने इस संसार परिभ्रमण को रोकना। संसार परिभ्रमण को तभी रोका जा सकता है, जब हम बन्धन से बचेंगे और बन्धन तभी दूर होगा जब हम बन्धन के कारणों को जान सकेंगे। बन्धन के कारण हैं रागद्वेष। हम राग और द्वेष के चक्कर में जन्म-

जन्मान्तरों से फँसे हुये हैं। उस रागद्वेष को हम दूर करेंगे तभी हम अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे। हम किसकी उपासना करें ? जो रागद्वेष में जी रहा है उसकी ? या जिसने रागद्वेष को जीत लिया है उसकी ? रागद्वेष में जीने वाले की उपासना करोगे तो संसार में भटकते रहोगे। क्योंकि जो खुद मँझधार में डूब रहा है वह तुम्हें कैसे तार सकता है ? वीतराग की उपासना करके ही वीतरागता को प्राप्त कर सकते हो। हम पढ़ते हैं पूजा में -

राग सहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेटचो अबै, मेटचो राग कुटेव ॥

हे प्रभु, आज आपके समक्ष आने के बाद मेरी आँखें खुली हैं। मैंने अपने आपको पहचाना और यह जान लिया कि किस कारण मैं आज तक इस संसार में भटकता रहा हूँ।

सन्त कहते हैं कि यदि तुम्हें पापों का प्रक्षालन करना है तो गंगा में डुबकी लगाओ पर बाहर की नहीं, अन्दर की गंगा में डुबकी लगाओ। अपने भीतर के पाप का प्रक्षालन करना चाहते हो तो ज्ञान गंगा में डूबने की कोशिश करो। जो ज्ञान गंगा में डूब जाते हैं उनके पाप प्रक्षालित हो जाते हैं। भीतर ही वह गंगा है उसे पहचानो। बाहर की गंगा तुम्हें कभी प्रक्षालित नहीं कर सकती है।

नीम न मीठी होय, कितौं सींचो गुड़-घी से

पाण्डवों को जब विजय प्राप्त हुई तो वे सब लोग तीर्थयात्रा के लिये निकले। श्रीकृष्ण को भी अपने साथ यात्रा में शामिल करना चाहते थे। श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं व्यस्त हूँ। मैं नहीं जा सकता हूँ। फिर भी जब, आप बहुत आग्रह कर रहे हैं तो एक काम करो मैं अपने प्रतिनिधि के रूप में तुम्हें एक तूमड़ी देता हूँ, इसे मेरी जगह यात्रा करा देना। वे उस तूमड़ी को ले गये। चारों धाम की यात्रा की। पाण्डव एक बार डुबकी लगाते तो उसे चार डुबकी लगवाते। जब सब लोग यात्रा करके लौटे तो श्रीकृष्ण ने उनके सम्मान में एक भोज दिया। भोज में सब बैठे। उन्होंने पाण्डवों से पूछा - हमारे प्रतिनिधि को यात्रा करा दी ? जबाव पाया - हाँ करा दी है। तब

श्रीकृष्ण ने उस तुम्बी को माँगा। श्रीकृष्ण ने कहा - यह तो पवित्र हो गई होगी ? पाण्डवों ने कहा - हाँ यह तो परम पवित्र हो गई है। अब सब जैसे ही भोजन के लिये बैठे तो सबको खीर परोसी गई। सब खीर खाने लगे और जैसे ही मुँह में खीर डाली तो सभी थू-थू करने लगे। यह क्या हो गया ? श्रीकृष्ण ने कहा - क्या कर रहे हो तुम लोग, क्यों थू-थू कर रहे हो ? बोले - यह खीर है कि ज़हर ? श्रीकृष्ण ने कहा - गड़बड़ मत करो, खीर खाओ। पाण्डवों ने कहा - प्रभु, यदि इसको खायेंगे तो मर जायेंगे। तब श्रीकृष्ण ने कहा - तुम लोगों को बहुत पाप लगेगा। मालूम है तुम्हें किसकी खीर दी गई है ? पाण्डवों ने प्रश्न किया - प्रभु, किसकी खीर है ? तब श्रीकृष्ण ने कहा - वही मेरे प्रतिनिधि की, जिसे चारों धाम में अभी पवित्र करके लाये हो। उसी तुम्बी की खीर बनी है। पाण्डव बोले - प्रभु, यह खीर चाहे जिसकी बनी हो, लेकिन इतनी कड़वी है कि खायेंगे तो ज़िन्दा रहना मुश्किल होगा। तब श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया - सुनो, अपनी धारणा को परिवर्तित कर दो। बाहर की गंगा में स्नान करने से ही पवित्रता नहीं आती है। पवित्रता तो भीतर की गंगा में स्नान करने से आती है। इसलिये उन्होंने कहा -

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटो दयोर्मी।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धचति चान्तरात्मा ॥

पहले पहुँचें बात की तह तक

हे पाण्डुपुत्र यदि तुम स्नान करना चाहते हो तो आत्मा रूपी नदी में स्नान करो, जो संयम के जल से भरी है। सत्य का जिसमें प्रवाह है, शील जिसके तट हैं और दया की जिसमें तरंगें उत्पन्न हो रही हैं। उसमें अभिषेक करो। पानी में नहाने से अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती है। लेकिन क्या करें ? कई तरह के लोग हैं, जो इस तरह की प्रवृत्तियाँ करते रहते हैं। हिन्दुस्तान में तो न जाने कितने प्रकार के देवी-देवता हैं। चाहे जिसको पूजना शुरू कर देते हैं। कुछ न हुआ तो समुद्र का पानी किसी कारण वश मीठा हो गया तो लोग उसको ही पूजना शुरू कर देते हैं। अरे ! उसका क्या कारण है ? उसके पीछे क्या हेतु है ? उसको जानो। कारण जाने बिना

उसकी पूजा कर रहे हो ? यह तो प्राकृतिक परिवर्तन है। उससे अगर तुम प्रभावित हो जाओगे तो तुम अपने जीवन का उद्धार नहीं कर सकोगे। यह अज्ञान है। इस लोकमूढ़ता से बचो। लोक में बहुत सारी ऐसी-ऐसी रीतियाँ हैं जिनका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन लोग इन्हें मान रहे हैं। एक ने पूजा तो सबने पूजना शुरू कर दिया। यह भेड़ चाल है। इससे अपने आपको बचाइये।

क्रियाओं में न उलझें, मर्म को समझें

अनन्तकाल से हम केवल यही करते आये हैं। सम्यग्दृष्टि कहता है कि नहीं, अब विराम लो। अब इनकी कोई ज़रूरत नहीं है। यह हमारे लिये अवलम्बनीय नहीं है। हाँ, नदी की सुरक्षा करना, पेड़-पौधों की सुरक्षा करना, यह बात तो समझ में आती है लेकिन उनको पूजना, यह समझ में नहीं आता है। मुझे तो यह भी बड़ी विचित्रता लगती है कि एक तरफ तो लोग उनको पूजते भी हैं और दूसरी तरफ उनको प्रदूषित भी करते हैं।

एक बड़े आत्मज्ञानी साधक थे। वे एक नदी के तट पर गये तो देखा कि लोग गंगा के जल को उठा रहे हैं और बार-बार उछाल-उछालकर उसे वापस जल में गिरा रहे हैं। पूछा - क्या कर रहे हो ? लोगों ने कहा - हम सब लोग सूर्य को अर्घ दे रहे हैं। वह आत्मज्ञानी व्यक्ति थे, उनको यह बड़ा अटपटा लगा। यह बात उनको सुहाई नहीं। दूसरे दिन वह गंगा के तट पर फिर पहुँचे। उन्होंने गंगा का पानी निकाल-निकाल करके नदी के तट के ऊपर फेंकना शुरू कर दिया। लोगों ने पूछा - भैया, क्या रहे हो तुम ? तो उस आत्मज्ञानी साधु ने कहा - भाई, मैं जिस देश में रहता हूँ, वहाँ पानी की बहुत कमी है, वहाँ पूरी खेती सूख रही है। इसलिये हमने सोचा कि यहाँ बहुत पानी है और इसे मैं यहाँ से उछालूँगा तो वहाँ पहुँच जायेगा। वहाँ की खेती हरी-भरी हो जायेगी और पानी की कमी भी दूर हो जायेगी। लोगों ने कहा - अरे मूर्ख, तुम्हें समझ में नहीं आता कि क्या यहाँ का पानी वहाँ जा सकता है ? साधु ने कहा - यह तो मैं पहले भी जानता था। पर मैंने सोचा कि यहाँ का पानी सूरज तक जा सकता है तो मेरा देश तो सौ मील की दूर है। वहाँ तक नहीं पहुँचेगा ?

वस्तुतः हमारी पूजा-आराधना आत्मशुद्धि परक होनी चाहिए। यदि हम इन्हीं बातों में सब कुछ मान रहे हैं और अपने विकारों और विचारों के शोधन का ध्यान नहीं रख रहे है तो वह उपासना अधूरी है। उससे हमारा उद्धार नहीं हो सकता है। इसको बदलना चाहिये।

लोकमूढ़ता इसी को कहते

धर्म बुद्धि से नदी में स्नान करना, सागर में स्नान करना, अग्नि का ढेर लगाकर पूजना, पेड़-पौधे आदि की पूजा करना यह सब लोकमूढ़ता की श्रेणी में आता है। यह एक प्रकार का धार्मिक अन्धविश्वास है। सम्यग्दृष्टि इन सब चीज़ों से मुक्त रहता है। एक बार किसी ने गंगा से पूछा कि - तुम दुनिया के पाप धोती हो और उसके बाद क्या करती हो ? लोग कहते हैं - कि गंगा पापहारिणी है। तब गंगा ने कहा - मैं लोगों का सारा पाप लेती हूँ और सूरज को देती हूँ। सूरज से पूछा - तुम लोगों के पापों को लेकर क्या करते हो ? सूरज ने कहा - भैया क्या करूँ, गंगा मुझे देती है, मैं बादल को दे देता हूँ। फिर बादल से पूछा - तुम लोगों के पाप लेकर क्या करते हो ? बादल ने कहा - हम लोगों को वापस कर देते हैं, पानी बरसाकर। वस्तुतः यह बात अपने मन में स्थापित कर लेने की है कि जब तक हम भावविशुद्धि को धारण नहीं करते हैं, तब तक किसी तीरथ से हमारा उद्धार नहीं हो सकता है। भावविशुद्धि पहला लक्ष्य होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि उसी को लक्ष्य बनाकर चलता है, इसलिये वह किंचित् भी विचलित नहीं होता है। इस तरह की प्रवृत्ति को अपनाने का नाम लोकमूढ़ता है।

बंदे न होंगे इतने, जितने ख़ुदा हैं ख़ुदायी में

अब क्रम है देवमूढ़ता का। हमारे यहाँ तो न जाने कितने प्रकार के देव हैं। जितने ज्यादा देवी-देवता भारत में होंगे शायद ही दुनिया के किसी देश में होंगे। जैनधर्म के अनुसार वस्तुस्थिति को समझना है। जैनधर्म के अनुसार हमारे लिये केवल वीतराग ही पूज्य है। ध्यान रखना, जैनधर्म में देवी-देवता का स्थान मनुष्य से नीचे है। मनुष्य का ऊपर बताया है। आपको मालूम है कि तीर्थंकरों की मूर्तियों के

चरणों में यक्ष-यक्षणियों की रचना क्यों की गई ? उनका अंकन क्यों किया गया ? पुरातत्त्व का आप अध्ययन करेंगे तो पायेंगे कि सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद यह चलन हुआ। वह केवल इसलिये हुआ कि हिन्दू परम्परा में बहुदेवतावाद का चलन हुआ। तब वह पूरी परम्परा विखण्डित सी होने लगी। बहुत सारे देवता आ गये। इतिहास की बात नहीं कर रहा हूँ। समीक्षक इस बात को लिखते हैं। उस समय हमारे आचार्यों ने एक बहुत दूरदर्शी सोच रखी कि कहीं जैनियों में भी देवी-देवताओं का चक्कर न लग जाये, तो उन्होंने यक्ष-यक्षणियों को तीर्थंकरों की मूर्तियों के नीचे अंकित करना शुरू कर दिया। लेकिन विनत मुद्रा में, अंजुलिबद्ध मुद्रा में, ताकि यह बताया जा सके कि देवी-देवता का स्थान मनुष्य से नीचा है। वे भी तीर्थंकरों की पूजा करते हैं। मनुष्य भगवान बन सकता है, देवी-देवता भगवान नहीं बन सकते। वे असंयमी हैं, आप संयमी हो सकते हैं। मनुष्य सप्तम गुणस्थान तक आज की तारीख में जा सकता है। देवी-देवता चौथे गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते। फिर उनकी पूजा-अर्चना क्यों ? मनुष्य उनसे ज्यादा बलशाली है। देवी-देवता भी मनुष्य होने के लिये तरसते हैं। फिर उनकी पूजा-आराधना क्यों ? और अगर पूजा ही करनी है तो मैं पूछता हूँ कि वीतराग भगवान में ऐसी क्या कमी है कि जो किसी दूसरे की पूजा-अर्चना की ज़रूरत पड़ रही है ? चाहे शासन देवी-देवताओं के नाम पर बात कर लीजिये, चाहे किसी भी नामधारी देवी-देवताओं के नाम ले लीजिये। वे पूज्य नहीं हो सकते हैं। पूज्य तो केवल वीतराग जिनेन्द्र ही हैं। देवों के नाम पर हमारे यहाँ पंचपरमेष्ठी हैं, ज्यादा है तो नवदेवता ले लिया। बस। इसके अलावा और कोई नहीं।

ये सेवक जिनदेव के

नवदेवता कौन-कौन होते हैं। पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनचैत्यालय। इसके अलावा और कोई नहीं हैं। यही हमारे आराध्य हैं और इसके अलावा हमारे लिये और कोई आराध्य हैं ही नहीं। हम उनकी आराधना क्यों करें ? किसलिये करें ? लोग कहते हैं कि इनकी पूजा-अर्चना करने से तुम्हारे सभी

संकट टल जायेंगे। एक व्यक्ति ने कहा - महाराज जी, पद्मावती की आराधना करने से सारी बीमारियाँ चली जाती हैं। मैंने कहा - सिद्ध कर दो, यदि ऐसा हो तो बड़े-बड़े सभी अस्पताल बन्द कर दिये जायेंगे। उनको पद्मावती के मन्दिर के रूप में परिवर्तित कर दिया जायेगा। दुनिया की सेवा हो जायेगी। अगर उसकी पूजा करने से बीमारी दूर हो जाय तो इससे बढ़िया कल्याण का काम और क्या होगा ? ध्यान रखना, यह केवल बाहर के निमित्त हैं। जब तक तुम्हारा पापोदय है, बड़ा से निमित्त तुम्हारा काम नहीं कर सकता है और पुण्य का उदय आते ही छोटा से छोटा निमित्त भी काम कर जाता है, इसलिये इनके चक्कर में मत पड़ो। इनसे दूर रहो। वीतराग भगवान की आराधना इतनी विशुद्धि से करो कि तुम्हारा पाप-पुण्य में परिवर्तित हो जाये। कहीं जाकर भिखारी बनने की ज़रूरत ही नहीं पड़े। जीवन में कितने भी संकट क्यों न आयें, भगवान के चरणों को छोड़कर और किसी के पास मत जाओ।

जग जाता है विश्वास हमारा

ध्यान रखना, भगवान के चरणों में जाने के बाद तुम्हारा संकट दूर हो या न हो, संकट सहने की सामर्थ्य ज़रूर प्राप्त हो जायेगी। तुम्हारे अन्दर की समता विकसित हो जायेगी। और संकट के सहने की सामर्थ्य प्राप्त करना सबसे बड़ी उपलब्धि है। कोई विचलन नहीं, कोई परेशानी नहीं, कोई पीड़ा नहीं। वीतराग से बढ़कर आखिर इस संसार में है कौन और उसके बाद भी अन्य अन्य की पूजा हम वीतराग की तरह करते हैं तो यह हमारे अन्दर का मिथ्यात्व ही कहलायेगा। यह मिथ्यात्व अनन्तकाल से हम करते आये हैं, आगे भी करना पड़ेगा।

पाता विजय सदा पुरुषार्थी

बन्धुओ, मैं किसी पंथ और परम्परा से बँधा हुआ नहीं हूँ। हमारे आचार्यों ने हमसे कहा - मूढ़ ! जिनशासन क्या है ? इसे समझो। वीतरागी के पास आकर भी वीतरागता से दूर जाने वाला अभागा कितना बड़ा अभागा होगा ? यह सोचने की ज़रूरत है। दुनिया के जितने बड़े-बड़े उद्योगपति हैं उनसे पूछो कि वह किसको पूजते हैं ? धन-सम्पन्नता किसी देवी-देवता की पूजन से नहीं होती, बल्कि व्यापार

में तुम्हारी कुशल नीतियों की वजह से होती है और इसके साथ चाहिये पुण्य का संयोग। एक भिखारी आदमी देवी के चरणों में खूब माथा रगड़े और कहे कि मुझे करोड़पति बना दे और बुद्धि है नहीं तो क्या वह करोड़पति बन जायेगा ? पुण्य के संयोग के साथ जब तुम्हारी व्यापारिक नीति-निपुणता होगी और उसी अनुरूप तुम पुरुषार्थ करोगे तो तुम्हें फल मिलेगा, बाकी कहीं फल नहीं मिल सकता है। कदाचित् दरिद्री बन जाओ, लेकिन दीन-हीन मत बनो। दूसरे के चरणों में स्वयं का माथा पटकना स्वयं को दीन-हीन बनाना है। सम्यग्दृष्टि कभी ऐसा नहीं करता है।

ऐसी शक्ति हमें देना भगवन्, मन का विश्वास कमजोर हो ना

वह भगवान के चरणों में जाता है और कहता है कि - भगवान आपने मुझे यह सिखाया है और आपके चरणों में आकर मैं ये समझा हूँ कि मनुष्य के कर्म के अनुसार जैसा अनुकूल-प्रतिकूल होना होता है, वह उसे भोगना ही पड़ता है। आज मैं सम्पन्न हूँ, तो अपने कर्म से हूँ, विपन्न हूँ तो अपने कर्म के हूँ। यह पुण्य और पाप का खेल है। पुण्य-पाप दोनों नश्वर हैं। न पुण्य स्थायी है और न पाप स्थायी है। आप तो मुझे इतनी समता दो कि आने वाली विपत्ति को मैं सह सकूँ और अपनी आत्मा की निजी सम्पत्ति को प्राप्त कर सकूँ। जिसने अपनी सम्यक्त्व रूपी स्थायी सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया है, उसे बाहर की यह सम्पत्ति और विपत्ति किंचित् भी विचलित नहीं कर पाती है। वह इसमें स्थिर बना रहता है। उसकी बुद्धि स्थायी बनी रहती है, उसकी चेतना निर्मल और विशुद्ध बनी रहती है। वह जीवन में बहुत कुछ उपलब्ध कर लेता है। वीतराग प्रभु की सत्ता को पहचानने की दृष्टि अपने अन्दर विकसित कीजिये। ऐसी कौन-सी ताकत है जो भगवान में न हो और उनमें हो ? संसार की ऐसी कौन सी चीज है जो वीतराग भगवान की पूजा से तुम्हें न मिले और उनकी पूजा-अर्चना से मिल जाये ?

न इनकी दोस्ती अच्छी न इनकी दुश्मनी अच्छी

संसार के जितने भी सरागी देवी-देवता हैं वे तुम्हारे अभिवादन के योग्य तो हो सकते हैं, पर अर्चना के योग्य नहीं। अर्चना और अभिवादन में बहुत अन्तर है।

जैसे एक साधर्मी दूसरे साधर्मी को जय जिनेन्द्र करते हैं, वैसे ही उनसे भी कर लो। इससे बढ़कर नहीं। क्योंकि उससे ज़्यादा उनका स्थान नहीं है। एक बात और बता दूँ कि ये जितने भी देवी-देवता होते हैं, सब व्यन्तर होते हैं और ये बड़े खतरनाक होते हैं। उनसे दूर ही रहना श्रेयस्कर होता है। क्योंकि उनकी दोस्ती पुलिस की दोस्ती जैसी होती है। न पास रहना ठीक है, न दूर जाना। पल में प्रसन्न और पल में खिन्न हो जाते हैं इसलिये दूर रहोगे तो ज्यादा सुखी रहोगे। दोस्ती बढ़ाओगे तो ज़्यादा परेशान हो जाओगे। अगर अभी तक कहीं कोई करता भी रहा है तो उनसे क्षमा माँग लो। कहना - आज महाराजश्री के प्रवचन से हमने यह दृष्टि प्राप्त कर ली है कि आपके प्रति अनादर और अवज्ञा का मेरे मन में कोई भाव नहीं हैं। आप हमारे साधर्मी हैं, इसलिये अपनी कृपा दृष्टि बनाये रखें। ताकि हमारी धर्माराधना ठीक ढंग से चलती रहे। हम अपने जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते रहें, जय जिनेन्द्र। इससे आगे नहीं।

सत्य की ही होती परीक्षा

उनसे घबड़ाना भी नहीं चाहिये। प्रायः परीक्षा होती है। लोग घबड़ा जाते हैं। वहीं पर आदमी की आस्था परखी जाती है। जो मनुष्य सत्य के मार्ग पर आरूढ होता है वह बड़ी से बड़ी परीक्षा देने को तत्पर रहता है। बड़ी से बड़ी चुनौति को स्वीकार करने को तैयार रहता है और अपने जीवन को आगे बढ़ाता है। यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम किसको चुनना चाहते हो। राग को या वीतराग को ? अगर तुम्हारा चित्त मजबूत होगा तो राग तुम्हें आकृष्ट नहीं कर पायेगा। और चित्त कमजोर होगा तो आप कभी वीतराग के उपासक बन नहीं सकते हैं। इसीलिये उसकी तरफ अपनी दृष्टि अपनाइये। इसलिए अमूढदृष्टि अपनाइये और अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त कीजिए।

गया १४-०३-०७

निज गुण अरु पर अवगुण ढाँके

धर्म धारिये जीवन में

धर्म आत्मा के आन्तरिक अनुशासन का नाम है। धर्म जहाँ हमारे जीवन को भीतर से संतुलित बनाता है वहीं हमारे व्यवहार को व्यवस्थित करने की भी प्रेरणा देता है। अन्दर में पवित्रता और बाहर में शालीनता धर्म का सही प्रतिफल है। भीतर और बाहर जब तक हम दोनों ओर व्यवस्थित नहीं होते हैं तब तक हम अपने समग्र जीवन का उद्धार नहीं कर सकते हैं। धर्म हमारे समग्र जीवन के रूपान्तरण का आधार है। वह जहाँ आन्तरिक शुचिता और पवित्रता की बात करता है, वहीं बाहर की विनम्रता, सौम्यता और शालीनता की ओर भी उतना ही ध्यान देता है। विगत दिनों से जिस सम्यग्दर्शन की हम चर्चा कर रहे हैं वह धर्म का प्रधान अंग है। उसके रहते ही हमारे भीतर धर्म पनप सकता है।

क्या सीखा है हमने अब तक ?

अभी तक सम्यग्दर्शन के जिन अंगों की चर्चा की गई है, वह भीतर की ही थी। मन में संदेह और अश्रद्धा का अभाव होना, भय और शंका का निर्मूलन होना नि:शंकित होना है। जब तक चित्त में संदेह का काँटा चुभा रहेगा, तब तक हम अपने जीवन को सुखी और शान्त नहीं बना सकते हैं। नि:शंकित अंग ने हमारे अन्दर के संदेह को दूर कर नि:शंक होने की प्रेरणा दी है। नि:कांक्षित अंग ने सांसारिक अपेक्षा और विषयों की चाह को कम करके उनके प्रति उदासीनता रखते हुये नि:कांक्षित बनने की प्रेरणा दी है। निर्विचिकित्सा अंग में हमने सीखा कि अब हमें अपने जीवन में घृणा और वैमनस्य को त्याग कर प्रेम, आत्मीयता और सौहार्द के बीज बोने हैं। आप अपने मन में कभी किसी के प्रति नफरत पैदा न होने दें। जहाँ तक बन सके अपने रिश्ते प्रेमपूर्ण बनाने की कोशिश करें। और इसके बाद

अमूढ़दृष्टित्व में हमने सीखा कि अपनी आस्था को अविचल बनाये रखें। चाहे कैसी भी स्थिति क्यों न आ जाये ? चाहे जितना भय, प्रलोभन या कितना भी बड़ा दबाव क्यों न हो, अपनी दृष्टि को किसी से प्रभावित न होने दें। अपनी आध्यात्मिक और उपासनागत मूढ़ता को दूर कर सही आस्थावान बनें और अपने जीवन के पथ को प्रशस्त करने का प्रयत्न करें।

कैसी हो बाहर की यात्रा ?

ये चारों अंगों की बातें स्व के लिये थी। अब बात करते हैं कि तुम्हारे भीतर तो यह हो पर तुम्हारे व्यवहार में क्या हो ? जब तुम बाहर हो तो क्या हो ? और लोगों के मध्य हो तो क्या हो ? आगे के चार अंग व्यवहार को नियन्त्रित करने वाले हैं। उपगूहन अंग का मतलब है कि किसी से यदि कोई दोष हो जाये तो या तो उस दोष को देखो मत और यदि देखो तो उसका प्रचार मत करो। उसे वहीं दबा दो। स्थितीकरण अंग कहता है कि समाज में हर व्यक्ति एक जैसा नहीं होता है। कोई सक्षम होता है तो कोई अक्षम भी होता है और कोई कभी-कभी अपने पथ से च्युत होता दिखता है तो उसको अपने पथ पर स्थिर करो। वात्सल्य अंग का मतलब होता है कि सभी के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार को रखो। प्रभावना अंग कहता है कि जिनशासन की सर्वत्र ख्याति बढ़ाओ। जिनशासन की यश:पताका को दिग्-दिगन्त तक फैलाने की कोशिश करो। ये चारों अंग हमारे व्यवहार के अंग हैं। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है उपगूहनअंग।

निज गुण अरु पर औगुन ढाँकै

हम सब साधना के मार्ग पर चलने वाले हैं। तय है कि हर कोई चलता है पर यह ज़रूरी नहीं कि जो चले वह केवल चलता ही रहे। चलते-चलते, कई-कई बार गिरने की भी नौबत आ जाती है। लोग गिरते हैं, सम्हलते हैं तब चलते हैं। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो कि केवल चलता रहे। मोक्षमार्ग में यदि हम चल रहे हैं तो हमारे द्वारा अनेक प्रकार के दोषों के होने की सम्भावनायें भी हैं। क्योंकि साधक वह है जो अपने दोषों के उन्मूलन के लिये लगा हुआ है। दोषों के उन्मूलन का प्रयत्न जब तक

चलता है तब तक हमारे भीतर दोषों के छुपे होने की सम्भावनायें भी बनी रहती हैं। कभी-कभी हमारे भीतर की दुर्बलता या हमारे भीतर का जो दोष है वह हमसे बड़ी से बड़ी त्रुटियाँ करा लेता है। उस त्रुटि के कारण कभी-कभी पूरा का पूरा मार्ग बदनाम होने की कगार पर आ जाता है। मार्ग से लोग स्खलित होने की स्थिति में भी आ जाते हैं। सन्त कहते हैं - यह स्वाभाविक है। अज्ञानता के कारण, प्रमाद के कारण, भ्रम के कारण अथवा अन्य किसी परिस्थिति के कारण व्यक्ति अपने धर्ममार्ग से कदाचित् स्खलित हो सकता है। उसमें कुछ दोष आ सकते हैं। लेकिन यदि कभी किसी के द्वारा कोई दोष हो जाये तो तुम उस दोष को ढाँक लो, उसको प्रचारित मत करो। उपगूहन का मतलब है धर्मात्मा लोगों के दोषों को देखकर भी अनदेखा कर दो। उसे ढाँक देना अथवा छिपा लेना। उसे प्रचारित नहीं करना। दूसरों के दोषों को ढाँकने का नाम उपगूहन है। सन्त कहते हैं कि दूसरों के दोषों को ढाँको और उनके गुणों को प्रचारित करो। अपने गुणों को ढाँको और दोषों को प्रचारित करो। हम लोग उल्टा करते हैं। किसी का थोड़ा-सा भी दोष दिख जाये तो उसे प्रचारित करने में हम सब माहिर हैं। किसी के बड़े से बड़े गुण भी हमें दिखाई नहीं पड़ते हैं और अपना छोटा-सा भी यदि गुण है तो उस गुण को फैलाने में हमें बहुत महारत हासिल है। हमें लगता है कि हमसे बड़ा गुणवान इस संसार में कोई दूसरा नहीं है। हमें अपने बड़े-बड़े दोष दिखाई नहीं पड़ते और दूसरों के बड़े-बड़े गुण नहीं दिखते हैं। हमें अपना छोटा-सा गुण दिखाई पड़ता है और सामने वाले का छोटा-सा दोष भी दिखने लगता है। वस्तुतः यह हमारी एक प्रवृत्ति बन गई है, दोषदर्शन की।

दोष दिखें तो रहिये मौन

स्वभावतः हम बुराई देखने के आदी हो गये हैं। अच्छाई की तरफ हमारा ध्यान कम जा पाता है। बुराई के प्रति हमारा चित्त सहजता से आकृष्ट हो जाता है और जब तक हमारा चित्त बुराई के प्रति आकर्षित होता रहेगा तब तक हम अपने आपको बुराई से बचा नहीं सकेंगे। बन्धुओ, बुराइयों के प्रति आकृष्ट होना ही हमारे जीवन की सबसे बड़ी बुराई है। जब तक यह बुराई हमारे अन्दर रहेगी तब तक हम

अपने जीवन में अच्छाइयों के फूल नहीं खिला सकते हैं। इसलिये अच्छाइयों को अपनाना चाहते हो तो जहाँ तक बने दूसरों के दोषों को देखो मत और यदि देखने में आ भी जायें तो उसे प्रचारित न होने दो। **दोषवादे च मौनम्।** यदि किसी की दोषपूर्ण बात तुम्हारे सामने आ भी जाये तो उस बात को तुम वहीं दबा दो, उसके बारे में बोलो मत, दोषों के ख्यापन से आखिर तुम्हें हासिल क्या होगा? मिलना कुछ भी नहीं है। हाँ, दूसरों में दूषण लगाकर तुम अपने जीवन को दूषित ज़रूर कर सकते हो। संत कहते हैं कि कभी दूसरों पर दूषण मत लगाओ। कोशिश करो दोष दिखे ही नहीं और यदि दिख भी जाये तो उसे अपने अन्दर पचाने की कोशिश करो। पर बड़ी मुश्किल होती है अपने अन्दर किसी की गलती को पचा पाना।

बुराई के व्याख्याता

एक बार तीन विद्वान आपस में मिले और तीनों एक-दूसरे को अपनी-अपनी कमजोरी बताने लगे। एक विद्वान ने कहा - क्या बताऊँ, मैं जब प्रवचन करता हूँ तो सारी जनता को मुग्ध कर देता हूँ। पूरी की पूरी जनता भाव-विभोर हो जाती है। पर मेरे अन्दर एक बड़ी दुर्बलता है कि जब तक मुँह में तम्बाकू नहीं दबाता मेरा मूड ही नहीं बनता है। दूसरे ने कहा - बाकी चीज़ें तो ठीक हैं, मेरे अन्दर कोई व्यसन-बुराई तो नहीं है, पर पैसों का लालच मुझसे नहीं छूटता है। मैं लोगों को लोभ-लिप्सा छोड़ने की बात करता हूँ, लेकिन खुद में जो लालच है वह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। मुझे हमेशा लगता है कि कैसे भी हो पैसा हथियाना चाहिये। दोनों की बात अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि तीसरा अपना पेट पकड़कर भागने लगा। दोनों ने उसे टोका - भाई, तुम कहाँ जा रहे हो? तुम भी तो अपनी कमजोरी बताओ क्योंकि हम दोनों की दुर्बलता तो सुन ली। तीसना बोला - बस, अभी आता हूँ, और वह भागने लगा। दोनों ने लपककर उसको पकड़ा और कहा - तुम भी अपनी बुराई बताओ। तीसरे ने कहा - भैया क्या बताऊँ, मेरे पेट में अभी बहुत दर्द हो रहा है, मैं अभी आ रहा हूँ। उन दोनों ने फिर पूछा - दर्द तो हो रहा है, लेकिन दर्द का कारण भी तो बताओ? तब तीसरे विद्वान ने कहा - यही तो मेरी कमजोरी है कि

किसी की बुराई सुनकर जब तक उसे दो-चार को न बता दूँ तब तक मेरे पेट में दर्द होता है। मुझे जाने दो, मैं पूरे गाँव वालों को बताकर अभी आ रहा हूँ। सच है किसी की बुराई को सुन-देखकर जब तक दूसरों को बता नहीं दिया जाता, तब तक लोगों के मन में चैन नहीं पड़ती है और यही मनुष्य की अज्ञानता की पहचान है।

उपगूहक बनिये, उद्घोषक नहीं

ज्ञानी आदमी का हाज़मा बहुत मजबूत होता है। ज्ञानी आदमी बड़ी से बड़ी बात को भी हज़म कर लेता है। उसकी सोच बहुत गहरी होती है। लेकिन जो अज्ञानी है और उथली सोच का धनी है उसका हाजमा बहुत कमजोर होता है। उसके पेट में कुछ पचता ही नहीं है। साधारण सी बात को भी वह इस तरह से प्रस्तुत करता है कि सामने वाला हतप्रभ रह जाये। बन्धुओ, यह बहुत बड़ी कमजोरी है। जो दूसरों के दोषों को दबाये वह उपगूहक है और जो दूसरों के दोषों को बताये वह उपगूहक नहीं उद्घोषक है। उद्घोषक मत बनिये, उपगूहक बनिये।

सन्त कहते हैं जो दूसरों के दोषों को ढाँकता है और दूसरों के गुणों को फैलाता है वह उपगूहन अंग का धनी होता है। जब वह दूसरों के गुणों को प्रोत्साहित करता है तो स्वयं उसके भीतर गुणों का विकास होना शुरू हो जाता है, इसलिये इसे उपवृंहन गुण भी कहते हैं। ध्यान रखना, दूसरों के दोषों पर तुम्हारी दृष्टि जितनी जायेगी, तुम्हारे दोष उतने अधिक बढ़ेंगे। और दूसरों के गुणों का जितना अधिक आदर करोगे, तुम्हारे गुणों का कोष उतना ही अधिक बढ़ेगा। अब तुम पर है कि तुम किसको पसन्द करते हो ? दोष को पसन्द करते हो या गुणों को पसन्द करते हो ? दोषों को देखकर जीवन दूषित बनाओगे अथवा गुणों को पसन्द कर अपने जीवन को गुणवान बनाओगे ? गुणवान बनना है तो केवल गुणों पर ध्यान दो और यदि दोषों पर ध्यान रखोगे तो दोषी तो बने हो, हमेशा बने ही रहोगे। दोषों की तरफ से अपनी दृष्टि अलग करें।

गन्दगी चुनोगे या खुशबू खरीदोगे ?

सम्यग्दृष्टि की भावना होती है कि -

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे॥

दोषों पर दृष्टि जाये ही नहीं, गुणों पर दृष्टि जाना चाहिये। क्योंकि मुझे गुण प्रिय हैं। मैं गुणों का अनुरागी हूँ। बन्धुओ, सारा खेल हमारी दृष्टि का ही है। यदि हमारी दृष्टि अच्छी होती है तो सब अच्छा दिखने लगता है और हमारी दृष्टि खराब होती है तो सब कुछ खराब नज़र आने लगता है। हम किसी बगीचे में जायें। वहाँ डाल पर अपना सौरभ लुटाते हुए फूल भी हमें दिखाई पड़ेंगे, तो वहीं पर सड़ी-गली पत्तियों का ढेर भी दिखाई पड़ सकता है। अब यह तो हम पर है कि हम सौरभ लुटाते उनके मकरन्द से अपने चित्त को आनन्दित करें या कि वहाँ पड़ी सड़ी-गली पत्तियों की सड़ाँध को देखकर अपने चित्त में विकृति भरें। दोनों स्थितियाँ हैं। वहाँ पर सुगन्ध भी है और सडांध भी है। यह हम पर निर्भर करता है कि हम फूलों को महत्त्व देते हैं या कि गंदगी को। हम सुवास को चुनते हैं या बदबू को। दोनों चीज़ें हमारे सामने हैं। हमारी जैसी दृष्टि होगी हमारा चुनाव भी वैसा ही होगा। आये हो तो केवल फूल की सुगन्ध और सुवास का रसपान करो। सडांध की तरफ अपनी दृष्टि मत डालो।

बन्धुओ, सम्यक्त्व को प्राप्त करना यानि जीवन को सकारात्मक दिशा देना है। सम्यग्दृष्टि सकारात्मक नज़रिये से भरा होता है। वह बुराई में भी अच्छाई ढूँढने का अभ्यासी होता है लेकिन अज्ञानी प्राणी को तो अच्छाई में भी बुराई दिखाई पड़ती है। सन्त कहते हैं - बुरे में भी अच्छा देखने की कोशिश करो।

सीखी तमीज़, बदतमीज़ों से

लुकमान हकीम हुये हैं एक। बहुत बड़े ख्यातनामा व्यक्ति थे। उनसे एक बार किसी ने पूछा - आपने तमीज़ किससे सीखी। उन्होंने कहा - बदतमीज़ों से। सामने वालों को आश्चर्य हुआ कि तमीज़ भी बदतमीज़ लोगों से सीखी जा सकती है ? अत: पुन: पूछा - आपने कैसे सीखा ? हकीम साहब ने कहा - मैंने हमेशा बदतमीज़ों के व्यवहार को देखा और उससे परहेज़ किया। परिणामस्वरूप मैंने तमीज़ सीख ली। तुम्हारे भीतर दृष्टि हो तो बदतमीज़ों से भी तमीज़ सीखी जा

सकती है। तुम्हारे भीतर अगर दृष्टि हो तो बुराई में भी अच्छाई निकाल सकते हो। तुम्हारी चिन्तन धारा यदि सही हो तो गलत भी सही दिख सकता है और यदि दृष्टि विपरीत है तो अच्छे में भी बुरा ही दिखता है। कहते हैं - आँख पर जैसा चश्मा हो बाहर भी वैसा ही दिखाई देता है। काला चश्मा लगा लोगे तो सब कुछ काला दिखाई पड़ेगा और हरा चश्मा लगा लोगे तो सब कुछ हरा दिखाई पड़ेगा। अब इसमें दोष किसका है ? दोष बाहर का नहीं हमारी दृष्टि का है।

खालीपन को क्यों देखें हम ?

सबसे पहले आवश्यकता है अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने की। सम्यक्त्वी की यह पहचान है कि पहले वह सभी चीज़ों को सही नज़रिये से देखने की कोशिश करे। एक गिलास आधा भरा है और आधा खाली है। दोनों स्थितियाँ एक साथ हैं, लेकिन यह हम पर है कि हम गिलास के खालीपन को देखते हैं कि भरेपन को देखते हैं। यदि हमारी दृष्टि सही होगी तो हम यह कहेंगे कि गिलास आधा भरा है और यदि हमारी दृष्टि गलत है तो हमें गिलास का आधा खालीपन दिखेगा। यह सब चीज़ें हमारे ऊपर होती हैं।

आप किसी के घर मेहमान हुये। उसने आपको आधा गिलास दूध पिस्ता डालकर पिलाया। आपके अन्दर दो प्रकार की प्रतिक्रियायें हो सकती हैं - एक व्यक्ति जो बहुत ज्यादा सकारात्मक नजरिये से भरा होगा वह कहेगा कि कितना भद्र पुरुष है, कितना अच्छा स्वागत किया और दूसरा आदमी जो नकारात्मक दृष्टि वाला होगा कहेगा, बड़ा कंजूस आदमी है दूध भी दिया तो वह भी आधा गिलास। आज दुनिया में आधा गिलास दूध पिलाने वालों की प्रशंसा करने वाले कम हैं। आधा गिलास नहीं पिलाया इसकी निन्दा करने वाले लोग ज्यादा हैं।

बड़ी विचित्रता है हम ऐसे संसार में जी रहे हैं, जहाँ लोग उल्टी ही चाल चलते हैं। हमारी यह सोच जब तक परिवर्तित नहीं होती है, हम अपने जीवन को धन्य करने में सफल नहीं हो सकते हैं। अपने जीवन की दिशा और दशा को परिवर्तित करना चाहते हो तो सबसे पहले सकारात्मक दृष्टि को अपनाने की कोशिश करो। हमारी दृष्टि बदलेगी तो सब कुछ अपने आप ही बदल जायेगा।

नज़रिया अपना-अपना

मुझे महाभारत का एक प्रसंग याद आ रहा है। द्रोणाचार्य पाण्डवों और कौरवों के साथ शर-संधान के लिये जंगल में गये हुये थे। अचानक साँझ ढलने को हुई और रात्रि विश्राम का प्रश्न आया तो द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा - देखो पास का गाँव विश्राम के लिये कैसा है ? दुर्योधन उस गाँव में गया और वापस आकर बोला - गुरुदेव ! वह गाँव बहुत खराब है, यहाँ सबके सब मक्कार और धूर्त लोग हैं। हमें तो एक भी भला आदमी पूरे गाँव में दिखाई नहीं पड़ा। द्रोणाचार्य ने सारी बात चुपचाप सुनी और थोड़ी देर के बाद युधिष्ठिर को उस गाँव में भेजा। युधिष्ठिर से कहा - जाओ देखकर आओ कि गाँव कैसा है ? युधिष्ठिर गये और लौटकर आने के बाद कहा - गुरुदेव ! यह गाँव तो बहुत अच्छा है। यहाँ के सारे लोग सभ्य और सरल हैं। बड़े भद्र हैं। अतिथिसत्कार को तो ये अपना धर्म मानते हैं। यह गाँव हमारे विश्राम के लिये बहुत अच्छा रहेगा, क्योंकि यहाँ एक भी बुरा आदमी नहीं है। उसी गाँव में दुर्योधन गया था तो उसे सबके सब गाँव वाले मक्कार नज़र आये और उसी गाँव में युधिष्ठिर गये तो वे ही लोग धर्ममूर्ति दिखे। सीधी बात है कि दुर्योधन के अन्दर मक्कारी भरी थी, इसलिये उसे सब मक्कार नज़र आये और युधिष्ठिर धर्ममूर्ति थे इसलिये सब उन्हें धर्मात्मा नज़र आये। तय है कि जो धर्ममूर्ति होगा उसे सब धर्मात्मा दिखेंगे और जो मक्कार होगा उसे सब मक्कार नज़र आयेंगे। यह तो सारा का सारा खेल हमारी दृष्टि का है।

मस्जिद में जले चिराग, पहले घर तो रौशन कीजिये

मेरे भीतर यदि मक्कारी भरी है तो सब मक्कार ही दिखेंगे। गलत आदमी को सब कुछ गलत दिखता है और भले आदमी को सब कुछ भला दिखता है। भला देखने की कला आनी चाहिये, तब जीवन का उद्धार होगा। बुरे को तो हम जन्म-जन्मान्तरों से देखते आ रहे हैं। एक बात और बताइये कि दूसरों की तुम बुराई देखोगे तो क्या मिलेगा ? दूसरों के घर में झाड़ू लगाने से क्या तुम्हारे घर का कचरा साफ हो जायेगा ? झाड़ू लगाना है तो अपने घर में लगाओ। फिर देख लो कि दूसरों

के ऊपर तो तुम दोषारोपण कर रहे हो, खुद के गिरेवान मेंझाँककर देखो कि तुम कितने पानी में हो ? ध्यान रखना, सुधार वही कर सकता है जो खुद सुधरा हुआ है। जो खुद बिगड़ा हुआ है, वह दूसरों को सुधार नहीं सकता है। सफाई करना है तो साफ-सुथरी झाड़ू से सफाई करो, तो ही सफाई होगी। कीचड़ और गंदगी लगी झाड़ू से झाड़ू लगाओगे तो गंदगी ही फैलेगी। तुम्हारे अन्तस् में मलिनता है और तुम चाहो कि हम दूसरों को सुधार दें तो यह कभी संभव नहीं हो पायेगा। इसलिये संत कहते हैं - अपनी दृष्टि को स्वच्छ करने की कोशिश कीजिये।

नज़रें तेरी बदलीं तो नज़ारे बदल गये।
किश्ती ने बदला रूख तो किनारे बदल गये॥

सही दिशा में आगे बढ़ने की कोशिश कीजिये। हम कभी किसी के दोष को देखें नहीं और यदि कभी किसी के दोष दिख भी जायें तो उसे प्रचारित न करें।

क्या आप भी ऐसे ही सुधारक हैं ?

क्या करें, अच्छाई देखने की बात तो करते हैं, पर अच्छाई दिखती नहीं। बुराई बहुत जल्दी दिख जाती है। एक चित्रकार ने एक बहुत सुन्दर चित्र बनाया। उसने सोचा कि इस चित्र की सही समीक्षा होनी चाहिये। उसने शहर के चौराहे पर टॉग दिया और उसमें लिखा कि इसमें कहीं कोई कमी दिख जाये तो हमें बता देना। अगले दिन जब वह चित्र के पास गया तो चित्र का केवल धब्बा बचा था। इतनी कमियाँ लोगों ने निकाल दीं। अब वह चित्र नहीं रहा, चित्र की जगह एक धब्बा बनकर रह गया। उस चित्रकार को बड़ी पीड़ा हुई और सोचा कि बात क्या है ? एक भी आदमी को इसमें अच्छाई नहीं दिखी। अगले दिन उस चित्रकार ने एक नया चित्र बनाया और उसके नीचे एक नया कैप्सन लिखा - इस चित्र में एक कमी रह गई है यदि आपको दिख जाये तो कृपया सुधार दें। बहुतों ने उस चित्र को देखा और चलते बने। अगले दिन जब चित्रकार आया तो चित्र ज्यों का त्यों था। दूसरों पर दोषारोपण करना तो बहुत सरल है पर दूसरों की गल्तियों का सुधार करना बहुत कठिन है। बन्धुओ, हम अच्छाई कम देख पाते हैं और बुराईयों पर हमारी दृष्टि

ज्यादा केन्द्रित रहती है। इसलिये इस दृष्टि से अपने आपको बचायें।

हम क्यों पनपने दें बुराई ?

जो हम चाहेंगे वह हमें मिलेगा। गुणानुरागी दृष्टि अपनायें। गुणों को प्रोत्साहन देने से हमारे भीतर के गुण बढ़ते हैं और दोषों की तरफ दृष्टि रखने से हमारे भीतर का दूषण फैलता है। अब आप यह पूछ सकते हैं कि महाराज श्री ऐसा क्यों है ? किसी की कोई गल्ती हो जाये और हम उसे दूसरे को न बतायें तो इससे तो फिर बहुत गड़बड़ियाँ हो जायेंगी। दोषों को संरक्षण नहीं मिलेगा क्या ? दोषों का संपोषण नहीं होगा क्या ? ध्यान रखना, दोषों के संपोषण की बात यहाँ नहीं की जा रही है। दोषों के संशोधन की बात की जा रही है। तय है कि आप कहते हैं कि दूसरों की बुराई आप नहीं बतायेंगे तो गड़बड़ी नहीं फैलेगी ? तो बताकर भी आप उसे सुधार नहीं सकते हैं। आप किसी व्यक्ति की गल्ती को प्रेम से जितना जल्दी दूर कर सकते हो, उसे प्रचारित करके नहीं कर सकते हैं। अगर किसी को सुधारना है तो उसे एकान्त में बुलाकर उसकी गल्ती का अहसास कराओ। तुम्हारे आत्मीय व्यवहार से उसमें परिवर्तन की बहुत कुछ संभावनायें बन जायेंगी। यदि दस लोगों के सामने आप उसे अपमानित करोगे तो वह व्यक्ति उसे अपनी प्रतिष्ठा का मुद्दा बना लेगा। जिससे उसमें कभी सुधार की संभावना नहीं होगी।

यह तरीका है सुधार का

एक बेटा यदि सिगरेट पीता है और यदि उसे मालूम है कि पिता को इसकी जानकारी नहीं है तो उसके सुधार की गुंजाइश है, लेकिन जिस दिन उसे मालूम पड़ जाये कि मेरे घर वालों को इसकी जानकारी है तो हो सकता है कि वह सामने पीने में भी संकोच न करे। बुराई को दूर करना मूल लक्ष्य है, लेकिन बुराई को दूर करने की भी एक पद्धति है। आप अपने बेटे की किसी गल्ती को दस लोगों के सामने प्रकट करोगे तो उस बेटे पर उसका विपरीत असर पड़ेगा और उसी कार्य को यदि आप अकेले में बुलाकर समझाओगे और कुल की गरिमा का ध्यान कराओगे तो

उस बेटे को अपनी गरिमा का अहसास होगा। बहुत संभव है कि वह उस बुराई को दूर कर दे। प्रेम से आदमी को बहुत अच्छे से बदला जा सकता है। तिरस्कार, प्रताड़ना और अन्य माध्यमों से हम व्यक्ति को सुधार नहीं सकते हैं।

हम सुधरेंगे, जग सुधरेगा

उपगूहन अंग हमें इसी व्यावहारिक भूमिका में जीने की प्रेरणा देता है, कि हम इस तरह की प्रवृत्ति से अपने आपको बचा करके रखें। स्वयं प्रेम से भरपूर रहो और सामने वाले को प्रेममय बनाने की कोशिश करो। ध्यान रखना, यदि आप किसी को सुधारना चाहते हो तो आपको स्वयं अपने आपको उससे ऊँचे स्तर पर रखना होगा। जो खुद ऊपर है वही नीचे वाले को ऊपर खींच सकता है। जो नीचे है वह कभी नीचे वाले को ऊपर नहीं ला सकता है। हमारा धरातल उससे ऊँचा रहे।

होती है चूक सभी से कुछ-कुछ

मोक्षमार्ग है और मोक्षमार्ग में भी अनेक प्रकार के लोग होते हैं। उनमें भी कभी-कभी चूक हो जाती है। वैराग्य की शिथिलता के कारण, चारित्रमोहनीयकर्म के तीव्रोदय के कारण अथवा अपनी अज्ञानता के कारण। यदि ऐसा कुछ हो जाता है तो ऐसा कार्य मत करो जिससे कि मार्ग मलिन हो, मार्ग की बदनामी हो।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि -

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्त-जनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्॥

जो स्वरूप से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा उत्पन्न हुई निंदा को छिपाते हैं उसका नाम उपगूहन अंग है।

खराब कौन, रास्ता या राही ?

हम किसी रास्ते पर चलते हैं और रास्ते पर चलने वाले लोग अच्छे हों, भले हों, तो हम कहते हैं कि यह रास्ता बहुत अच्छा है। यहाँ आप रात के बारह बजे भी जा सकते हो। और किसी रास्ते पर चोर, उचक्के, लुटेरे लोग बसते हैं तो उस

रास्ते को हम बहुत खराब मानते हैं। कहते हैं ये रास्ता ठीक नहीं है। जबकि यथार्थतः देखा जाये तो रास्ता कोई अच्छा या खराब नहीं होता।

उत्तरप्रदेश में हम विहार कर रहे थे, एक जगह बोर्ड पर लिखा था, इधर से न जायें। यह रास्ता खराब है। मैंने देखा पिच तो बहुत अच्छी दिख रही थी। रास्ता खराब कहाँ से है ? लोगों ने बताया - महाराज, इस रास्ते पर जाने वाला सुरक्षित नहीं निकल सकता। कहीं भी उसकी लूट हो सकती है, कुछ भी पता नहीं। इसलिये लिखा गया है कि रास्ता खराब है। अर्थात् जिस रास्ते पर खराब लोग रहते हैं उसका नाम खराब रास्ता होता है और जिस रास्ते पर अच्छे लोग रहते हैं उसका नाम है अच्छा रास्ता।

धर्मी से पहचान धर्म की

लोगों से रास्ता अच्छा बनता है और लोगों से ही रास्ता बुरा बनता है। धर्म के मार्ग पर हम चल रहे हैं, जब लोगों की दृष्टि में धर्मात्माओं के प्रति यह अवधारणा होगी कि इस धर्म के अनुयायी बहुत अच्छे हैं, यह अपने नियमों के प्रति दृढ़ रहते हैं। तब वह मार्ग हमेशा अच्छा माना जायेगा और जिस दिन यह प्रचारित हो जायेगा कि ये लोग तो बड़े पाखण्डी हैं तो उस मार्ग से ही आस्था खत्म हो जायेगी। बन्धुओ, कोई व्यक्ति अच्छा होता है तो हम कहते हैं कि यह व्यक्ति अच्छा है। इसी तरह किसी धर्म के लोग अच्छे होते हैं तो हम कहते हैं कि यह धर्म बहुत अच्छा है।

सन्त कहते हैं - यदि कदाचित् किसी से कोई चूक हो जाये और चूक होना स्वाभाविक है, तो उसको प्रचारित मत करिये। समुद्र में मेंढक नहीं मरेंगे तो कहाँ मरेंगे ? महाराज क्या उसे संरक्षण देते रहें ? उसका पोषण करते रहें क्या ? पोषण भी नहीं करना है, बल्कि उसका शोधन करना है। शोधन भी प्रक्रिया के तहत ही होता है। अभी उपगूहन अंग है आगे स्थितीकरण अंग की चर्चा आपसे की जायेगी। जब कोई च्युत हो रहा हो तो उसे कैसे स्थिर किया जाये ? ऐसी दृष्टि यदि हमारे अन्तरंग में होती है तो हम अपने जीवन में बहुत कुछ कर सकते हैं। ऐसी दृष्टि यदि हमारे

भीतर प्रकट हो जाती है तो हम अपने जीवन का उद्धार करने में समर्थ होते हैं।

सीखें, सीख कथा के माध्यम से

बन्धुओ, उपगूहन अंग के सन्दर्भ में मुझ बाबा भारती और खड्गसिंह की वह कहानी याद आ रही है जो कभी मैंने कक्षा में पढ़ी थी। बहुत मार्मिक कहानी है 'हार की जीत'। कहानी तो आपने पढ़ी होगी, सुनी होगी पर आज मेरे सन्दर्भ में सुनिये। और देखिये कि यह कहानी हमारे उपगूहन अंग को किस तरह व्यक्त करती है ? बाबा भारती के पास एक प्राणप्रिय घोड़ा था सुल्तान। बाबा भारती उसे दिल से चाहते थे या यूँ कहें कि उनकी आत्मा ही उसमें बसी हुई थी। उस घोड़े पर डाकू खड्गसिंह की नज़र गड़ गयी। खड्गसिंह ने बाबा भारती से वह घोड़ा खरीदना चाहा। मुँह माँगी कीमत देने की बात की लेकिन बाबा भारती ने कह दिया कि इस घोड़े को मैं किसी भी कीमत पर नहीं दे सकता। यह घोड़ा मेरा प्राण-प्यारा घोड़ा है। पर खड्गसिंह को तो वह घोड़ा पसन्द आ चुका था। डाकुओं को कोई चीज़ पसन्द आ जाये और वह उन तक न पहुँचे यह संभव ही नहीं है। एक दिन बाबा भारती अपने घोड़े पर सवार होकर चले जा रहे थे कि रास्ते में एक कराहता हुआ वृद्ध दिखाई पड़ा। उस अपाहिज वृद्ध ने उनसे कुछ सहायता की माँग की। बाबा भारती का हृदय दया से द्रवीभूत हो गया। उन्होंने कहा - ठीक है एक काम करो, तुम घोड़े पर बैठ जाओ, मैं घोड़े की लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलूँगा। उस अपाहिज को बाबा भारती ने घोड़े पर सवार कर दिया और खुद पैदल चलने लगे, पर थोड़ी ही देर में उनके हाथ को झटका-सा लगा और लगाम हाथ से छूट गई। घोड़ा हवा में बातें करने लगा था। देखा जो अपाहिज था वह अपाहिज नहीं डाकू खड्गसिंह था। बाबा भारती एकदम ठगे से रह गये। अरे यह क्या ? खड्गसिंह ने बाबा भारती की ओर मुड़कर कहा कि देखो मैं खड्गसिंह हूँ मैंने तुमसे घोड़ा माँगा था। तुमने नहीं दिया। अब यह घोड़ा मेरा हो गया। अब मैं तुम्हें यह किसी भी हाल में नहीं लौटाऊँगा। बाबा भारती कुछ पल मौन रहे फिर उसी मुद्रा में बाबा भारती ने कहा - सुनो, खड्गसिंह सुनो, तुम घोड़ा ले जाते हो तो ले जाओ, पर मेरी एक बात सुनो।

खड्गसिंह ने पूछा - क्या है ? बाबा भारती ने कहा कि इस घटना का जिक्र तुम किसी से नहीं करना। खड्गसिंह को बड़ा आश्चर्य हुआकि क्या बात है ? इस घटना का जिक्र किसी से नहीं करने की बात क्यों कह रहे हैं ? बाबा भारती ने कहा - यदि तुमने इस घटना का जिक्र किसी से किया तो लोगों का अपाहिजों, गरीबों और ज़रूरतमन्दों पर से विश्वास उठ जायेगा। इसलिये तुम ऐसा मत करना।

खड्गसिंह घोड़े को तो ले गया लेकिन इस प्रसंग ने उसके चित्त को पूरी तरह मोड़ दिया। उसे लगा कि सच में यह तो देवता है। इतना महान् व्यक्ति ? इस व्यक्ति के घोड़े को ले करके मैं क्या करूँगा ? मुझे तो घोड़ा कोई भी मिल जायेगा। मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। उसकी आत्मा उसे अन्दर से कचोटने लगी। परिणाम यह निकला कि बाबा भारती जहाँ घोड़े के विरह की पीड़ा को सहते हुए रात्रि में करवटें बदल रहे थे, वहाँ सुल्तान को पाकर भी खड्गसिंह के अन्दर बेचैनी थी। उसका हृदय उथल-पुथल कर रहा था। इसी उथल-पुथल से प्रेरित होकर वह उसी रात घोड़े को बाबा भारती के दरवाजे पर बाँधकर चला गया।

बन्धुओ, यह दृष्टि है। यदि इस घटना का प्रचार-प्रसार किया गया होता तो खड्गसिंह वह घोड़ा कभी नहीं लौटता और उसका हृदय भी परिवर्तित नहीं होता।

कुछ ऐसा ही परिवर्तन आये, अपने अन्दर

बन्धुओ, जो काम बात को दबाकर के किया जा सकता है, वह काम बात को फैलाने से सहज नहीं किया जा सकता है। अपनी दृष्टि को ऐसे ही परिवर्तित करने की हम चेष्टा करें। यदि इस रूप में हमारे भीतर परिवर्तन घटित होने लगता है तो हमारा जीवन निहाल हो जाता है और ऐसा परिवर्तन अगर हम अपने भीतर घटित करने में समर्थ नहीं होते हैं तो हम अपने जीवन में कभी भी कामयाबी हासिल नहीं कर सकते हैं। इसलिये बन्धुओ, गल्तियाँ तो सबके साथ संभव हैं, हम गल्ती को देखें नहीं और यदि कदाचित् गल्ती दिख भी जायें तो उसको फैलाने की कोशिश न करें। जहाँ तक बने उसको वहीं की वहीं दबाने की कोशिश करें।

बुराइयों का परमाणु छोड़ें, गुणों का पर्वत बनायें

अच्छाई अनुकरणीय होती है। अच्छाईयों को फैलाना चाहिये, बुराइयों को नहीं। लेकिन हम लोग उल्टा ही करते हैं। आचार्य कहते हैं कि दोष मत फैलाओ।

परगुणपरमाणुमपि, पर्वति कृत्यनित्यम् ।
निजहृदि विकसन्तः सन्त सन्ति कियन्तः ॥

दूसरों के अन्दर स्थित परमाणु बराबर गुणों को अपने अन्दर विकसित करके पर्वत के समान बनाने वाले सन्त तुल्य लोग इस जगत् में कितने हैं ? दूसरों के परमाणु बराबर अवगुण को पर्वत के समान बनाने वाले लोग तो बहुत हैं। यह हमारी कमी है। हमें इसे बदलना चाहिये। जब तक हम अपनी सोच को नहीं बदल देते हैं तब तक हम अपने जीवन में सुधार की कोई संभावना विकसित नहीं कर सकते हैं।

घर को महकायें बगिया सा

बन्धुओ, मोक्षमार्ग में तो हम ऐसा करें ही, घर-परिवार में भी हम ऐसा ही करने का प्रयास करें। यदि आप अपने घर में प्रेम और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो, यदि आप चाहते हो कि आपके घर-परिवार के सदस्य एक-दूसरे से हिलमिलकर रहें तो इन बातों को ध्यान में रखें। सम्यग्दर्शन की जो बात आपसे कही है वह केवल आध्यात्मिक सन्दर्भ में ही नहीं कही है, बल्कि हर क्षेत्र में अपनाने के लिये कही है। यदि हम हर-एक क्षेत्र में इन बातों को अपनाते हैं तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु प्रत्येक क्षेत्र में हमारी सफलता का आधार बनता है इसलिये उसकी तरफ भी हमारी दृष्टि जानी चाहिये।

घर-परिवार में भी आप एक-दूसरे के दोषों को देखना बन्द कर दीजिये। अच्छाइयों को देखिये। हमारी निगाह हमेशा गल्तियों पर रहती है। कुछ लोग तो बिल्कुल तैनात से रहते हैं कि किसी ने कोई गल्ती की और हमने उस पर फायर किया। अरे ऐसा करके तुम पाओगे क्या ? खुद के लिये बहुत कुछ खोना हो जायेगा। इससे तुम्हारे घर में वैमनस्य फैलेगा। सन्त कहते हैं - प्रेम के रिश्ते बनाओ।

आत्मीयता के सम्बन्ध बनाओ। तब तुम्हारे जीवन में कुछ उपलब्धि होगी। घृणा-वैमनस्य को फैला करके आखिर तुम क्या पाओगे ? घृणा का बीज बोने वाला व्यक्ति अपने जीवन को घृणित बना डालता है, इसलिये अपने आपको बचाने की कोशिश करो और अपने जीवन को तदनुरूप ढालने की कोशिश करो। देखो, जीवन में क्या आनन्द आता है। लेकिन कुछ लोग ऐसा करने में पिछड़ जाते हैं। आपने देखा होगा कि कुछ लोग पूरी की पूरी किताब की प्रूफ रीडिंग कर डालते हैं पर उनके पल्ले एक अक्षर भी नहीं पड़ता है, क्योंकि प्रूफ रीडिंग करने वाले किताब नहीं पढ़ते हैं, किताब की गल्तियाँ ढूँढते हैं। कहाँ-कहाँ गलती हैं। उस किताब के शब्द और शब्दों के अर्थों के प्रति उनकी दृष्टि नहीं जाती है। उनका ध्यान तो केवल गल्तियों पर केन्द्रित रहता है। पूरी किताब पढ़ लेने के बाद भी उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। उस किताब को पढ़ करके, जिसकी प्रूफ रीडर ने गल्तियाँ निकाली हैं, लाखों लोग अपना जीवन बदल डालते हैं। जबकि प्रूफरीडर को कुछ भी नहीं मिलता। जिस किताब से प्रूफरीडर ने कुछ नहीं पाया, उसी किताब से पाठक लोग बहुत कुछ पा लेते हैं और अपने जीवन को बदल डालते हैं।

सन्त कहते हैं कि बन्धुओ तुम भी अपने अन्दर झाँककर देखो कि कहीं तुम प्रूफरीडर तो नहीं बन गये हो। **ज़िन्दगी की किताब के केवल प्रूफरीडर मत बनिये या तो लेखक बनिये या फिर पाठक बनिये।** देखिये ज़िन्दगी में कितना आनन्द आता है। हम क्या कर रहे हैं ? केवल एक-दूसरे की गल्तियाँ और मीनमेख निकालने में लगे हुये हैं। यदि हमारी ऐसी प्रवृत्ति बनी रहेगी तो हम कभी अपने जीवन में सफलता हासिल नहीं कर सकते हैं। इसलिये इन सब बातों से अपने आपको बचाने की कोशिश कीजिये। अच्छाई को देखने की कोशिश कीजिये।

प्रूफरीडर को बहुत अच्छा भी नहीं माना जाता है। हम स्वयं के प्रूफरीडर बनें, दूसरों के नहीं। हम अपने अन्दर झाँककर देखें कि मेरे अन्दर कितनी कमियाँ हैं, बजाय दूसरों के। यदि हम अपनी कमजोरियों पर निगाह रखेंगे तो निश्चित रूप से हमारे जीवन का उद्धार होगा। और यदि दूसरों की कमजोरियों पर हमारी दृष्टि बनी रहेगी तो हम अपने जीवन में कभी भी सफल नहीं हो सकते हैं।

मील के पत्थर पर नहीं, मंजिल पर नज़र रखें

ज्ञानी जीव अपनी कमजोरियों को देखता है, अपने गुणों को नहीं। क्योंकि उसका लक्ष्य साफ होता है। वह यह नहीं देखता है कि उसने अपने जीवन में कितनी उपलब्धियाँ हासिल कर ली हैं। वह केवल यह देखता है कि अभी मुझे अपने जीवन में और क्या-क्या करना है। उसकी दृष्टि इस पर नहीं होती कि वह कितना चल चुका है, बल्कि उसकी दृष्टि इस पर होती है कि उसे अभी कितना चलना शेष है।

इस सन्दर्भ में मुझे विशेष तौर पर ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं, जिन्हें सम्यग्दृष्टि के जीवन का अंग होना चाहिये -

जब से चला हूँ राह पर, मंजिल की है तलाश।
आँखों ने कभी मील का पत्थर नहीं देखा ॥

मुझमें कितने दोष हैं ? मुझे अपनी अनुपलब्धियों को पूर्ण करना है। मुझे अपनी अपूर्णता को पूर्ण करना है। मुझे अपने जीवन की रिक्तता को दूर करना है। मुझे अपनी खामियों को खत्म करना है।

चलना है मुझे मीलों, सोने से पहले-पहले

अज्ञानी अपनी उपलब्धियों को देखता है और उनका गर्व करने लग जाता है। अज्ञानी अपनी थोड़ी-सी सफलता पर बहुत ज्यादा दर्प और अभिमान करता है। पर ध्यान रखना, तुच्छ उपलब्धियों पर अभिमान करना अपने विकास के मार्ग को अवरुद्ध करना है। जो लोग छोटी उपलब्धियों में अभिमान कर लेते हैं वे बड़े लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जिनके लक्ष्य बड़े होते हैं, वे अपनी छोटी-मोटी उपलब्धियों को गिनते ही नहीं। अनदेखा कर देते हैं। वे तो हमेशा यही सोचते हैं कि जब तक मैं अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाऊँगा तब तक मुझे चैन नहीं है। अभी तो बहुत थोड़ा-सा चला हूँ। अभी तो मुझे बहुत आगे तक जाना है। हजारों मीलों का सफर तय करने वाला व्यक्ति कदम दो कदम को सफलता नहीं मानता है। वह एक-एक कदम को सफलता के लिये आगे बढ़ाने को प्रयत्नशील

रहता है। मुझे अभी और चलना.... और चलना.... और चलना है। दूसरों की अच्छाइयों से वह निरन्तर प्रेरणा लेता है, अपनी अच्छाइयों को बढ़ाने के लिये निरन्तर कटिबद्ध रहता है। वह कटिबद्धता हमारे भीतर हो और अपनी अच्छाई को हम निरन्तर बढ़ाने की कोशिश करें ऐसा तब होगा जब हम दूसरों की अच्छाइयों को प्रोत्साहित करेंगे।

सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदम्

गुणानुराग रखने के कई फायदे हैं। एक तो हमारा चित्त प्रसन्न रहता है और गुणानुराग रखने से दूसरों के गुण ग्रहण करने का भाव होता है, उससे हमारे गुणों की अभिवृद्धि होती है। गुणवानों के प्रति आपका गुणानुराग नहीं होगा तो कितना भी गुणवान व्यक्ति क्यों न हो आप उसकी अच्छाई ग्रहण नहीं कर सकते हैं और उसके प्रति द्वेष बुद्धि रखने के कारण आप अपने चित्त को सदा दूषित बनाये रखोंगे इसलिये अपने चित्त को शुद्ध और निर्मल बनाये रखना चाहते हो तो दूसरों की अच्छाई को देखने की कोशिश करें। कभी किसी की बुराई दिखती है तो उसको अनदेखा करने की कोशिश करें। पहली कोशिश यही करें कि देखें ही नहीं और दिख जाये तो उसे फैलायें नहीं। वहीं के वहीं रखने की कोशिश करें। यदि हम ऐसा करते हैं तो वह आपकी सफलता का बहुत बड़ा आधार होगा। ज्यादा मीनमेख निकालना अच्छी बात नहीं होती है।

मत थोपें अपनी राय सभी पर

घर-परिवार मेंभी व्यक्ति एक-सी विचारधारा के नहीं होते हैं। हम चाहते हैं कि सब कोई हमारी तरह चलें पर यह संभव नहीं होता है। जिसे हम अच्छा मानते हैं, सामने वाले को भी वह अच्छा लगे, यह ज़रूरी नहीं है और जिसे हम बुरा मानें वह सामने वाले को बुरा ही लगे यह भी ज़रूरी नहीं है। हो सकता है कि जो सामने वाले की दृष्टि में बुरा है वह हमारी दृष्टि में अच्छा हो और जो हमारी दृष्टि में बुरा है वह सामने वाले की दृष्टि में अच्छा हो। छोटी-छोटी बुराइयों पर जब हम ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं, तो पारिवारिक सम्बन्धों में खटास आ जाती है।

लुढको नहीं चढ़ो ऊपर

देखिये, कितनी बड़ी विडम्बना है कि जब कोई किसी की उपलब्धियों की तारीफ करता है तो हमें विश्वास नहीं होता है और यदि किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाय कि यह आदमी बड़ा व्यभिचारी है, इस आदमी ने गबन किया है, तो हमारा मन उस पर विश्वास कर लेता है। अच्छाइयों पर विश्वास नहीं होता और बुराइयों पर सहज विश्वास हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि हमारा चित्त बुराइयों का ज्यादा अनुरागी है, अच्छाइयों का नहीं। बन्धुओ, ध्यान रखना, **ऊपर चढ़ने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है और नीचे उतरने के लिये केवल लुढकना ही पड़ता है।** सन्त कहते हैं - ऊपर चढ़ना है तो एक-एक कदम फूँक-फूँक कर रखो, कहीं चूक गये तो नीचे आ जाओगे। इसलिये अभी हमें बहुत आगे बढ़ने की आवश्यकता है और जब हमें आगे बढ़ना है तो हमारी दृष्टि निरन्तर उस ओर होनी चाहिये।

करें तारीफ खुले दिल से

अच्छाइयों को प्रोत्साहन देने की भावना यदि हमारे मन में होगी तो बहुत काम होंगे। परिवार के सदस्यों के गुणों की खुले मन से प्रशंसा करो। देखो वह तुम्हारा कितना कायल होता है। पहले भी मैंने कहा था कि एक-दूसरे की प्रशंसा करने की वृत्ति जिस घर में होती है उस घर में प्रसन्नताओं का साम्राज्य छाया रहता है। और जिस घर में लोग एक-दूसरों के प्रशंसक नहीं होते हैं, उस घर में विषाद छा जाता है। यदि आप अपने घर में प्रसन्नता की लहर उत्पन्न करना चाहते हैं तो एक-दूसरे की प्रशंसा करना शुरू कर दें। यदि कदाचित् किसी से चूक भी हो जाये तो बात-बात में टोका-टाकी न करें और ज़रूरत से ज्यादा हिदायतें देना बन्द करें। जब लोग ज़रूरत से ज्यादा हिदायतें देना शुरू कर देते हैं तो घर में अप्रसन्नता का वातावरण तैयार हो जाता है। यदि आप ज़रूरत से ज्यादा किसी को हिदायतें देंगे तो अपनी उपयोगिता खत्म कर डालेंगे।

याद रखें, गिलास में एक चम्मच चीनी डालोगे तो दूध मीठा हो जायेगा।

और वह ठीक भी लगेगा। यदि एक चम्मच की बजाय दस चम्मच चीनी डाल दोगे तो क्या होगा ? अरे ! चीनी और दूध, दोनों का स्वाद चला जायेगा। **सीमित हिदायतें तो व्यक्ति के जीवन को बदल डालती हैं पर ज़रूरत से ज्यादा हिदायतें देना दूध में दस चम्मच चीनी डालना है।**

आचार्यश्री का अनुशासन

हमारे आचार्य महाराज की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इतने बड़े संघ का संचालन करते हैं वे पर बहुत कम बोलते हैं और बोलने के बाद कुछ भी कम नहीं करते हैं। हमेशा कहते हैं - देख लो, ऐसा कर लेना। यदि उनके किसी आदेश-निर्देश का पालन करने में चूक हो गई तो कुछ नहीं बोलेंगे। बस आगे कोई निर्देश नहीं देंगे। आदेश नहीं देना ही उनका बहुत बड़ा आदेश है। हम सब लोग काँपते हैं। बीस-बीस, तीस-तीस वर्ष के दीक्षित साधु हैं उनके संघ में, लेकिन उनके इस व्यवहार के कारण कभी स्वप्न में भी उनकी अवज्ञा न हो यह भाव बना रहता है। हम लोगों से कभी कोई चूक होती है और आचार्य श्री देख भी लें तो चुपचाप से निकल जायेंगे। अनदेखा कर देंगे। हम लोग तो अन्दर ही अन्दर घबड़ा जायेंगे, कि महाराज ने देख लिया। लेकिन वे कभी नहीं बोलेंगे। जब कोई बड़ी गल्ती हो जाती है, तो पूरी फाईल खोल देंगे। देखो, तुमने उस दिन ऐसा-ऐसा किया था। एक साथ पूरी फाईल खोल देंगे। उनके ध्यान में नोट रहेगा सब। वक्त पर बोलेंगे तो उसका बहुत अधिक असर पड़ता है। उनके ऐसा करने से उनके प्रति हम लोगों का बहुमान और अधिक बढ़ता है और मैं समझता हूँ कि वक्त-बे-वक्त पर टोका-टाकी करते तो हम कहते कि उनकी तो आदत ही ऐसी है। बोलते ही रहते हैं।

रखिये बात पेट के अन्दर

ज्यादा बोलोगे तो अपना महत्त्व खो दोगे और कम बोलोगे तो अपना महत्त्व बरकरार रहेगा, इसलिये ज़रूरत से ज्यादा हिदायतें देना बन्द कीजिये। चाहे छोटा हो या बड़ा, कोई अच्छाई दिखे तो प्रशंसा कीजिये और बुराई दिखे तो जहाँ की तहाँ ढाँक दीजिये। हमारे यहाँ आचार्यों के गुणों के अन्तर्गत अपरिश्रावी गुण है। आचार्य के पास जाकर शिष्य अपना हृदय खोल देता है। बड़ी से बड़ी गल्ती भी जाकर बता देता है, लेकिन आचार्य के पेट से कोई उसकी गन्ध भी नहीं ले सकता

है। उन्होंने सुन लिया और सब पचा लिया। बन्धुओ, **जो विष को पचाता है वही नीलकण्ठ बन पाता है।** हर कोई नीलकण्ठ नहीं बन पाता है। हर कोई नहीं पचा सकता है। बेचारे शिष्य ने तो बताया निश्छल होकर कि गुरु हमारी शुद्धि का मार्ग बतायेंगे, पर गुरु ने ढिढोरा पीट दिया तो जीना मुश्किल हो गया।

मिलता प्रेम, प्रेम के बदले

ऐसे ही माँ-बाप को अपने बच्चों पर भरोसा करना चाहिये। और बच्चों के मन में यह भरोसा दिलाना चाहिये कि तुम बड़ी से बड़ी चूक भी कर जाओ और माँ-बाप को बताओगे तो भीतर से बात कहीं बाहर नहीं जायेगी। बच्चे यदि कदाचित् कोई चूक करके आयें तो उनके अन्दर इतना विश्वास पैदा कीजिये। उनको हिदायत दीजिये कि बेटा तूने यह जो किया ठीक नहीं किया। लेकिन कोई बात नहीं, बचपन में ऐसी गल्तियाँ होती रहती हैं। हम लोगों ने भी की पर आगे से इसकी पुनरावृत्ति नहीं करना। कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करना जिससे हमको नीचा देखना पड़े। इतना भरोसा रखो, फिर देखो, आपका बेटा आपकी बात कैसे नहीं मानता है ? आजकल के लोग कहते हैं कि महाराज क्या करें, जमाना बहुत खराब आ गया। बच्चे बात ही नहीं मानते हैं। अरे, बच्चे बात नहीं मानते यह बात तो मैं भी मानता हूँ। पर बड़े बात करना कितना जानते हैं, यह भी देखो। यदि बच्चों को हर जगह तिरस्कृत करोगे तो कभी आपके बच्चे आपके अनुरागी नहीं बनेंगे। प्रेम देकर के ही प्रेम पाया जा सकता है। प्रताड़ना से तो केवल प्रताड़ना ही मिलती है। इसलिये अपने हृदय में प्रेम विकसित करें।

मुझसे बुरा न कोय

यह उपगूहन अंग हमें यही बताता है। हम अपने जीवन व्यवहार में दोषों का आख्यापन न करें, आच्छादन करें। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव यही सोचता है कि मैं किससे दोषों की बात करूँ ? पहले अपने भीतर तो झाँककर देखूँ।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसे बुरा न कोय॥

इस संसार में मुझसे बुरा और कोई है ही नहीं। मैं क्या देखूँ ? अभी तो मेरे

भीतर दोषों का कोष भरा पड़ा है। मेरी आत्मा दूषित है, कर्मों से आच्छादित है। जब तक इन विकृतियों का उन्मूलन नहीं होता तब तक मैं अपनी शुद्ध दशा को प्राप्त नहीं कर सकता हूँ। मुझमें इतने सारे दोष हैं तो मैं किनके दोषों को देखूँ। असली दोषी तो मैं ही हूँ। संसार में जितने भी लोग हैं सब दोषी हैं। जो दोषमुक्त हो गये वे भगवान हैं। केवल भगवान ही हैं जो दोष मुक्त हैं। दोष तो मानवीय दुर्बलता है। हाँ गल्ती करना इंसान का स्वभाव है और गल्ती पर गल्ती करना शैतानियत की पहचान है। गल्ती हो जाये तो सुधर जायेगी, लेकिन गल्ती पर गल्ती हम करते जांय तो यह हमारी चूक है।

कोई न होता सन्त जनम से, होता नहीं सदा अपराधी

बन्धुओ, हर मनुष्य में सुधार की संभावना होती है। मैं तो यही मानता हूँ कि **हर सन्त का एक अतीत होता है, और हर अपराधी का एक भविष्य होता है।** जो सन्त हैं वे जन्म से सन्त नहीं हैं। कभी न कभी उसका इतिहास भी काला रहा होगा और जो अपराधी है वह सदा के लिये अपराधी नहीं होता है, उसके भीतर भी कहीं कोई सन्त छिपा रहता है, जो भविष्य में प्रकट हो सकता है। कोई आदमी कितना भी पतित हो, कितना भी बुरा हो उस आदमी के भीतर भी अच्छाइयों की संभावना बनी हुई है। इसलिये उसकी अच्छाई को प्रोत्साहित करने की हमारी कोशिश निरन्तर बनी रहनी चाहिये। कभी किसी को बुरी दृष्टि से मत देखो। सन्त कहते हैं - यदि यह भावना हमारे अन्तरंग में विकसित होने लगती है तो निश्चित रूप से वह हमारे जीवन की महानता का आधार बनती है। अगर ऐसी भावना से शून्य होकर हम कोई कार्य करते हैं तो हम अपने जीवन में कभी भी कोई कारगर उपलब्धि हासिल करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिये अपने जीवन को उपलब्धियों से भरने की कोशिश कीजिये। हम दूसरों के दोषों को न देखें। दूसरों के दोषों को अनदेखा करने की कोशिश करें। आपकी दृष्टि जितनी व्यापक होगी आपके जीवन का क्रम उतना ही उज्ज्वल बनता रहेगा। और आपकी दृष्टि जितनी विकृत होगी आपका जीवन उतना ही विकृत होता जायेगा। इसलिये हम पर निर्भर है कि हम क्या करें ?

हम सीखें, इस कथानक से

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने उपगूहन अंग के विषय में जिनेन्द्रभक्त सेठ का स्मरण किया है। आज के सन्दर्भ में उसको याद कर लेना मैं बहुत ज़रूरी समझता हूँ। सेठ जो पूर्णतः जिनेन्द्रदेव का भक्त था, उसकी दृष्टि कितनी उदार थी, कितनी विशाल और व्यापक थी। बन्धुओ, सम्यक्त्व को प्राप्त करने का मतलब दृष्टि में औदार्य को प्राप्त करना है। विशाल हृदयी व्यक्ति दूसरों की बड़ी से बड़ी बातों को सहजता से स्वीकार कर लेता है। जिनेन्द्रभक्त सेठ के घर में चन्द्रप्रभ भगवान का एक बहुत बड़ा चैत्यालय था। भगवान के ऊपर एक रत्नमयी सोने का छत्र चढ़ा हुआ था। उस इलाके में एक चोरों का गिरोह रहता था। चोरों के सरदार के मन में एक बात आई कि उस छत्र को चुराया जाये। पर उस छत्र को चुराना बहुत मुश्किल था। वह अपने गिरोह के मध्य उस छत्र को चुराने की योजना के विषय में चर्चा कर रहा था। उसी गिरोह में बड़ा ही चालाक और चतुर एक चोर था। उसने कहा कि - मैं इसे चुरा लूँगा। सरदार ने कहा - कदाचित् इन्द्र का सिंहासन चुरा लेना सरल है, पर इस छत्र को चुराना बहुत कठिन है। क्योंकि वह चौबीसों घण्टे संगीनों के साये में रहता है। उस चोर ने कहा - आप चिन्ता न करें। मेरे लिये यह बॉये हाथ का खेल है। मैं उस छत्र को चुराकर ही लाऊँगा, आप तो केवल अपनी आज्ञा प्रदान कीजिये। चोर बहुत चालाक था। चाहे जैसे रूप बनाने में समर्थ था। उसने एक क्षुल्लक का रूप बनाया। अपने साथ दस-बीस चेले चपाटियों को जोड़ा और जिनेन्द्रभक्त के गाँव की ओर बढ़ गया। जिनेन्द्रभक्त सेठ साधुभक्त श्रावक था। उसे मालूम पड़ा कि मेरे गाँव की सीमा में कोई साधु आ रहे हैं, तो वह अपने सारे मित्रजनों के साथ उनकी अगवानी करने को पहुँचा। अगवानी करने के बाद उन्हें अनुरोध पूर्वक ही अपने घर पर ही ठहरने को कहा। उस क्षुल्लक वेषधारी चोर ने कहा - कि हम तो साधु हैं। रमता योगी, बहता पानी। एक जगह कहीं ठहरते नहीं। बहता पानी निर्मल होता है और ठहर जाने पर उसमें सडाँध आती है। इसलिये हम ज़्यादा तो नहीं ठहर सकते हैं। सेठ जी ने कहा - अरे महाराज, आप ज़्यादा दिन नहीं ठहर सकते तो कुछ दिन तो ठहरें। हमें आपका उपदेश सुनने को मिलेगा। हम

लोगों को विशेष धर्मलाभ मिलेगा। उस क्षुल्लक ने कहा - ठीक है, सेठ जी ज़्यादा तो नहीं, कुछ दिन हम आपके घर पर रुक जायेंगे। सेठ जी ने कहा - महाराज, हमारे चैत्यालय में ही रुकें तो ज़्यादा अच्छा होगा। क्षुल्लक ने कहा - ठीक है, ऐसे तो हम गृहस्थों के यहाँ रुकना पसन्द नहीं करते हैं। हम भगवान के समक्ष रुकेंगे और चैत्यालय में ही रहेंगे। इस तरह वे चैत्यालय में ही रुके।

वह चोर बड़ा गुणी था, बहुत अच्छा वक्ता था। बहुत विद्वान था। उसने प्रवचन देना शुरू किया तो समा बाँध दिया। पूरे गाँववासी मुग्ध हो गये उसके प्रवचन से। उसको ज्ञान तो था पर उस ज्ञान का उपयोग वह अपने कल्याण के लिये नहीं करता था। बन्धुओ, **ज्ञान जब आत्मकल्याण की भावना से भरा होता है तो हमारे जीवन को भीतर से रूपान्तरित कर डालता है और जब ज्ञान केवल भीड़ जुटाने का साधन बन जाता है तो पण्डिताई का बोझ बनकर रह जाता है।** उसके साथ भी यही था। उस क्षुल्लक के प्रवचन से सारी जनता मुग्ध हो रही थी। सेठ जी भी बहुत प्रभावित थे। काफी दिन बीत गये। एक दिन सेठ जी को अपने व्यापारिक कार्य से बाहर जाना पड़ा तो वह क्षुल्लक जी के पास गये और बोले - महाराजश्री क्या करूँ, एक बहुत बड़ी समस्या आ गई है। मुझे कुछ दिन के लिये विदेश जाना है और मेरे जाये बिना काम नहीं होगा। मुझे आपका धर्मलाभ छोड़ना पड़ेगा, पर जाना मेरी मजबूरी है। महाराजश्री, आपसे एक निवेदन है आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है पर इतना मैं आपसे और कहता हूँ कि जब तक मैं लौटकर नहीं आ जाऊँ तब तक आप यहीं रहना। क्षुल्लक जी तुनक पड़े - अरे, ऐसा होता है क्या ? हम किसी से बंधते नहीं हैं। सेठ जी ने पुनः कहा - अरे महाराज जी, आप तो निर्बन्ध हो, आपको कौन बाँध सकता है ? फिर भी मेरा निवेदन है कि आप रुकेंगे तो सबको लाभ होगा। ठीक है मैं प्रयास करूँगा, पर मेरा कोई भरोसा नहीं, - ऐसा क्षुल्लक जी ने कहा। सेठ जी तो चले गये।

वह तो ऐसे ही मौके की तलाश में था। जिस दिन सेठ जी गये उसी रात को क्षुल्लक वेषधारी उस चोर ने भगवान के मस्तक के ऊपर से छत्र उठाया और अपने दुपट्टे में लपेट करके दौड़ लगा दी। लोगों को शंका हुई। पीछे-पीछे सिपाही और

दूसरे लोग दौड़ने लगे। चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो की आवाजें आने लगीं। आगे-आगे क्षुल्लक वेशधारी चोर और पीछे-पीछे सैकड़ों की तादाद में लोग उसका पीछा कर रहे थे। अब क्या करे, वह तो बुरा फँसा। वह भागता-भागता नगर के बाहर लगी सीमा के पास स्थित समुद्री बन्दरगाह के विश्रामगृह में पहुंच गया। संयोगवश सेठ जी उसी विश्राम भवन में थे। तकनीकी खराबी के कारण उनका जहाज उस रात निकल नहीं पाया था, इसलिये उन्होंने सोचा कि रात्रि विश्राम यहीं कर लें। जैसे ही उस चोर ने सेठ जी को देखा तो उनके चरण पकड़ लिये और कहा - सेठ जी, बचाओ। पीछे से तब तक भीड आ गई। सेठ जी को माज़रा समझने में देर नहीं लगी। एक ही पल में उन्होंने सारा मामला समझ लिया, आखिर मामला है क्या ? तुरन्त अपने आपको सम्हाला। तब तक सारे लोग आ गये और बोले - सेठ जी इसको पकड़िये, यह बहुत गंदा आदमी है। इसने भगवान का छत्र चुराया है।

सेठ जी ने कहा - आप लोग गलत कह रहे हैं। धिक्कार है आपको जो क्षुल्लक जी को चोर कह रहे हैं। मालूम है क्षुल्लक जी ने चोरी नहीं की है। इनसे तो छत्र मैंने मँगवाया था। आप लोगों ने इन्हें अपमानित करके बहुत बड़ा अपराध किया है। आप सबको इनसे क्षमा माँगनी चाहिये। सेठ जी के व्यक्तित्व से सभी प्रभावित थे। सबने क्षमा याचना की और चुपचाप चले गये। जब सभी लोग चले गये तो क्षुल्लक ने सेठ जी के पैर पकड़ लिये और कहा - आप तो सचमुच महान व्यक्ति हो। आज तो आपने मेरे प्राण बचा दिये। मेरी आत्मा आज मुझे धिक्कार रही है। काश, मैं सही में क्षुल्लक होता तो मेरा क्या होता ? मुझ जैसा कपटी पापी जिसने आपका विश्वासघात करके भगवान का छत्र चुरा लिया, उसके प्रति भी आपकी इतनी विशाल दृष्टि। आप तो धन्य हैं। सेठ जी ने कहा - सुबह का भूला शाम को घर लौट आता है तो उसे भूला नहीं कहते हैं। तुमने चोरी ज़रूर की है, पर मैं जानता हूँ कि तुम्हारे भीतर कोई साहूकार ज़रूर विराजमान है। आज तुमने कर लिया तो कोई बात नहीं। लेकिन आगे तुम चोरी न करने का संकल्प लेते हो तो तुम्हारे जीवन का उद्धार है।

बदल गई जीवनधारा

क्षुल्लक ने कहा - क्षुल्लक जी की यह वेशभूषा जो मैंने भगवान का छत्र चुराने के लिये धारण की थी अब मैं इस क्षुल्लक जी के बाने में कोई दाग नहीं लगाऊँगा और सारे जीवन सही क्षुल्लक बनकर अपने जीवन का कल्याण करूँगा। बन्धुओ, यह दृष्टि है। कितनी उदार दृष्टि है। धन्य है, वह जिनेन्द्रभक्त सेठ। सच में वह वास्तविक जिनेन्द्रभक्त था। यदि सेठ जी ऐसा नहीं किया होता तो क्या होता ? सेठ जी के व्यवहार से दो लाभ हुये - प्रथम तो यह कि छत्र सम्मानपूर्वक ढंग से पुनः यथास्थान पहुँच गया और दूसरा यह कि क्षुल्लक जी ने छत्र चुराया यह संदेश जाने से बच गया। आजकल ऐसा ही होता है। अच्छाई का प्रचार कम होता है और बुराई का प्रचार ज्यादा होता है। साधु यदि कोई गल्ती कर दे तो सब लोग एक ही नज़रिये से देखना शुरू कर देते हैं। इसलिये सन्त कहते हैं - अच्छाई के गीत गाओ और बुराई का दोषारोपण मत करो। आचार्य महाराज कहते हैं - **दूध की प्रशंसा करो, शराब की निन्दा करने की कोई आवश्यकता नहीं। इतने गुण बता दो कि शराबी को भी लगे कि दूध से अच्छी कोई चीज़ है ही नहीं।** जहाँ अच्छे हैं और अच्छाई है उनको निरन्तर प्रोत्साहित करने की कोशिश कीजिये। जहाँ बुराई है उधर से अपनी दृष्टि को मोड़ लीजिये। **दोषवादे च मौनम्** की वृत्ति को अपनाकर चलने वाला बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि को अर्जित कर पाता है और अपने जीवन को सफल कर लेता है। बन्धुओ, उपगूहन अंग की चर्चा आपसे की गई। इसका उद्देश्य यह नहीं कि दूसरों के दोषों को पोषित करते रहें, लेकिन आप दूसरों को दोषों को तभी संशोधित कर सकेंगे जब आपके हृदय में उसके प्रति प्रेम हो और उसके सुधार की ईमानदार भावना हो, तब आप किसी भी व्यक्ति को सुधार सकते हैं। यदि आप किसी को तिरस्कृत और अपमानित करने की भावना रखते हैं, तो कभी भी आप अपने को सुखी नहीं बना सकते हैं। हमारा जीवन सुखी हो, हमारा जीवन शान्त हो, हमारा जीवन संतुलित हो और हम सम्यक्त्व की भूमिका को अपने भीतर प्रकट कर सकें, ऐसी शुभभावना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

गया १५-०३-०७

बढ़े हाथ गिरतों की ख़ातिर

चुनें सुरक्षित मार्ग

मोक्षमार्ग साधना का मार्ग है और साधना का मार्ग बड़ा कठिन होता है। एक संसार का मार्ग है और दूसरा साधना का मार्ग है। संसार का मार्ग चलने में सरल है पर पहुँचाता कहीं भी नहीं है और जो साधना का मार्ग है वह दिखने में कठिन है पर हमें हमारे गन्तव्य तक पहुँचा देता है। एक मार्ग है जिसे हम श्रेय का मार्ग कह सकते हैं और दूसरा मार्ग है जिसे हम प्रिय कह सकते हैं। जो प्रिय है वह संसार का मार्ग है। इस मार्ग में बहुत सहूलियतें हैं, लेकिन इसकी कोई मंजिल नहीं है। पर वह मार्ग जिसमें हमारा श्रेय है, कल्याण है, वह दिखने में कठिन ज़रूर है पर हमें हमारे लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। इस मार्ग का अनुकरण कर हम अपने गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं। यह ऐसा ही है जैसे कि एक रेत का टीला हो और उस पर चढ़ना हो तो उसका स्पर्श बड़ा मुलायम-सा महसूस होता है। रेत के टीले पर जैसे ही आदमी चढ़ता है, वापस उतर आता है क्योंकि रेत भसकती है। रेत के भसकने से आदमी नीचे आ जाता है और जो दूसरा मार्ग है वह पहाड़ी चट्टानों का मार्ग है। जिसमें एक-एक कदम हमें सम्हल-सम्हल कर रखना पड़ता है, लेकिन आदमी सम्हल-सम्हल कर चले तो ऊपर पहुँचने के बाद वह प्रकृति की रमणीय छटा के दर्शन भी कर सकता है।

गिरते को थाम लो साथी

यह मार्ग है मोक्ष का मार्ग। जो शुरूआत में कठिन ज़रूर दिखता है, पर सम्हल-सम्हल कर चलने की आवश्यकता है, क्योंकि कदम-कदम पर दुर्घटनाओं की सम्भावनायें हैं। दुर्घटना की जहाँ भी सम्भावना बनी है, वहाँ सम्हलकर चलना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है। सन्त कहते हैं कि खुद से सम्हालो और सम्हलते-

सम्हलते तुम भी आगे बढ़ते रहो। अन्य कोई तुम्हें फिसलता दिखे तो उसे भी सहारा दो। गिरते को सहारा देने का नाम ही स्थितीकरण अंग है। सन्त कहते हैं कि पहले स्वयं को स्थिर करो और स्वयं की स्थिरता के साथ यदि कहीं किसी का किंचित् स्खलन दिख रहा है तो उसे सहारा दो। यही तुम्हारा धर्म है, आध्यात्मिक सन्दर्भ में भी और व्यावहारिक सन्दर्भ में भी। आचार्य कुन्दकुन्द अपनी आत्मा को प्रेरणा देते हुये कहते हैं -

उम्मग्गं गच्छंतं, सिवमग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥ समयसार

जो उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने मन को मोड़कर शिवमार्ग में लगाता है वही सच्चा सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

मन पर पहरा बहुत ज़रूरी

हमारा मन स्वभावत: उन्मार्ग की ओर जाने का अभ्यासी है। हमारा मन शुरू से विपथगामी रहा है। उस विपथगामी मन को सत्पथ पर लगाना सच्चे अर्थों में स्वयं का स्थितीकरण है। अपने मार्ग के प्रति हमेशा जागरूक रहें। अपने मन के प्रहरी बनें कि हमारा मन कहीं से विचलित न हो। हमारा मन कहीं इधर-उधर भाग न सके। वह सुपथ में चले, सन्मार्ग में चले जिससे हम अपने जीवन का उद्धार कर सकें और अपने मार्ग को प्रशस्त कर सकें। इसलिये सन्त कहते हैं - पहले अपने मन के प्रहरी बनो। सम्यग्दृष्टि आत्मसाधक जो अपनी आत्मा की साधना की भूमिका में जीते हैं, वे प्रति समय अपने मन के प्रति जागरूक रहते हैं। हमारा मन कहीं से भी इधर-उधर न हो, हमारा मन कहीं से भी डगमगाये नहीं। यदि मन डगमगाता है तो उसे सम्हालने की पूरी की पूरी कोशिश करने वाला साधक ही सच्चे स्थितीकरण अंग से युक्त होता है।

स्थितीकरण का व्यावहारिक पक्ष

इस तरह अपने मन को स्थिर कर चलने का ध्येय रखने वाले साधक आत्मसाधना के क्षेत्र में जब चलता है व्यवहार में भी स्वयं को स्थिर रखता है और

यदि किसी कारणवश कोई व्यक्ति मार्ग से च्युत होते दिखता है तो उसे आन्तरिक पीड़ा होती है। उसी पीड़ा से प्रेरित होकर वह उसे सम्हालने में भी सचेष्ट हो जाता है। यही उसका व्यावहारिक स्थितीकरण अंग है। जिसके विषय में आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं -

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

किसी कारणवश अपने दर्शन, ज्ञान अथवा चारित्र से यदि कोई व्यक्ति मार्ग से स्खलित हो रहा है तो उस गिरते हुये व्यक्ति को सहारा देने का नाम स्थितीकरण अंग है।

हम सुधरेंगे, जग सुधरेगा

बन्धुओ, धर्म हमें केवल यही नहीं सिखाता है कि हम अपनी साधना करें और आगे बढ़ें। हमारा धर्म हमें यह भी सिखाता है कि साधना का मार्ग अक्षुण्ण बना रहे और दूसरे साधक भी अपने मार्ग में आगे बढ़ें। अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों के कल्याण की बात सोचना सम्यग्दृष्टि की विशेषता होती है। वह स्वयं के उद्धार के साथ सारे जग के उद्धार की कामना करता है। उसके मन में एक भावना होती है कि प्रत्येक धर्मात्मा अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सके और इसी कारण जब उसे कोई धर्मात्मा धर्ममार्ग से च्युत होता दिखता है तो उसे बहुत पीड़ा होती है।

कुछ सामाजिक दायित्व हमारे

बन्धुओ, यदि हम इन बातों को ध्यान में रखते हैं तो हम अपने धर्म और समाज को सुरक्षित रख सकते हैं। धर्म का आचरण निश्चित रूप से नितान्त वैयक्तिक है, लेकिन वैयक्तिक स्तर पर आचरित किया जाने वाला धर्म हमें कुछ सामाजिक दायित्व भी बताता है, क्योंकि जब तक हम अपने सामाजिक दायित्वों का पालन नहीं करेंगे, तब तक हमारा धर्म संरक्षित नहीं रह सकेगा। धर्म और समाज यद्यपि दोनों जुदे-जुदे तत्त्व हैं, लेकिन दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। धर्म समाज को

नियन्त्रित करता है और समाज धर्म को संरक्षण देता है। समाज के बिना धर्म और धर्म के बिना समाज नहीं टिक सकता है। **धर्म शून्य समाज अराजक बन जाती है, लेकिन समाज के संरक्षण के अभाव में भी कोई धर्म टिक नहीं सकता है।** इसलिये आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं - **न धर्मो धार्मिकैर्बिना।** धर्मात्माओं के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता है, इसलिये तुम वैयक्तिक स्तर पर जिस धर्म का पालन कर रहे हो, कोशिश करो कि तुम्हारे साथ तुम्हारे आचार-विचार से जुड़े हुये लोग हमेशा फलते-फूलते रहें। किसी के ऊपर किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति न आ सके। किसी भी प्रकार की विपत्ति न आने पाये और यदि कोई किसी कारण से अपने मार्ग से च्युत हो रहा है तो उसको सहारा दो। यह तुम्हारी नैतिक जबावदारी है। लेकिन तब जब हम स्वयं को स्थिर कर सकें/स्थिर रख सकें।

सम्यग्दृष्टि की पीड़ा

आज स्थितीकरण अंग के सन्दर्भ में मैं दो-तीन बातें आपसे कहना चाह रहा हूँ। स्थितीकरण अंग हमारा एक मुख्य अंग है। उपगूहन की पृष्ठभूमि में हम किसी का स्थितीकरण कर रहे हैं। स्वाभाविक है कि मनुष्य दुर्बलाओं का एक प्रकार से पिण्ड है और दुर्बलताओं से स्खलित होकर मार्ग से च्युत हो जाना बहुत कुछ संभव है, लेकिन हमारा धर्म यह नहीं कहता है कि कोई गिर रहा है तो गिरने दो। हमें क्या लेना-देना ? जो व्यक्ति यह कहता है कि गिरता है तो गिरने दो तो समझ लो कि अभी उसको धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है। धर्मात्मा को यदि कोई व्यक्ति गिरता हुआ दिखता है तो उसके मन में इतनी प्रबल पीड़ा होती है कि शायद स्वयं के गिरने से भी उतनी पीड़ा न हो। वह कहता है - नहीं, उसे सम्हालने की यदि हमारे पास क्षमता है तो उसे सम्हालने की कोशिश हमें करना है। हर स्तर पर कोशिश करना है और इसी प्रेरणा से भर कर सम्यग्दृष्टि किसी भी रूप में गिरते हुये व्यक्तियों को सम्हालता है। आज समाज में व्यक्ति कई कारणों से धर्म से च्युत हो जाते हैं। कोई व्यक्ति अपनी पारिवारिक परिस्थितियों के कारण धर्म से च्युत हो जाता है, तो कोई सामाजिक परिस्थितियों के कारण। कई प्रकार के कारण आते हैं। सन्त कहते हैं -

किसी भी कारण से यदि कोई भी व्यक्ति धर्म से स्खलित हो रहा है तो उसे धर्म के मार्ग पर स्थिर करने का प्रयत्न करो।

का चुप साध रहा बलवाना ?

आचार्य वीरनन्दी ने अपने आचारसार में लिखा है -

जैनानां आपद्गतां तस्मात् उपकुर्वन्तु सर्वथा।
यः समर्थोऽपि उपेक्षेत्, स कथं समयी भवेत् ॥

आपत्तिग्रसित धर्मात्माओं का सर्व प्रकार से सहयोग करना चाहिये। जो समर्थ होकर भी उपेक्षा करता है वह कैसा सामर्थ्यवान है। उसके सामर्थ्य पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। जो व्यक्ति सक्षम होकर भी किसी अक्षम को सहारा देने के लिये आगे नहीं आता है, उसकी सक्षमता को भी हमें संदिग्ध मानना चाहिये। सच्चे अर्थों में वह सक्षम नहीं है। सन्त कहते हैं - पुण्य के योग से यदि तुम्हारे अन्दर कोई सक्षमता आई है तो तुम्हारी सक्षमता तभी सार्थक है जब तुम किसी अक्षम को सक्षम बनाने में आगे बढ़ो। किसी कमजोर को मजबूती प्रदान करने में आगे आओ, तब तुम्हारी धर्मनिष्ठा का सही परिचय होगा। अगर ऐसा नहीं है तो समझना कि जो कुछ भी कर रहे हो वह केवल सतही स्तर पर कर रहे हो। उसका आत्मा से अभी कोई सम्बन्ध नहीं है। आज हम देखते हैं कि समाज में व्यक्ति पीड़ित हैं, इतने पीड़ित हैं कि अपनी परेशानियों के कारण धर्म से भी भ्रष्ट हो रहे हैं, उन व्यक्तियों के लिये हमने क्या कुछ सोचा है ? हमें विचार करने की ज़रूरत है।

घिरती जब दुर्भाग्य की बदली

हम दो-तीन उदाहरण आप सबके बीच रखने जा रहे हैं, जो हमारे लिये समाज का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। पर हमें विचारना है कि उनके लिये आखिर हमारे पास क्या व्यवस्था है ? सन् 1994 में आचार्य महाराज की छत्रछाया में हम लोग अमरकंटक में थे। एक क्षुल्लक जी मेरे पास एक युवक को लेकर आये। उन्होंने कहा - महाराज, इसको समझाओ यह आदमी आत्महत्या करने को उतारू है। मैंने पूछा - क्यों भाई, क्या बात हो गयी ? उस व्यक्ति ने अपनी पीड़ा कही, जो

बहुत शोचनीय है - वह इन्दौर का निवासी था और वहाँ कपड़े का काम करता था। व्यापार में उसे बड़ा नुकसान हो गया। कुछ बदमास प्रकृति के लोगों से उसने कर्जा ले लिया। कर्ज के रूपये से लिया हुआ माल इटारसी तरफ ले जा रहा था, कि रास्ते में उसके माल की चोरी हो गई। उसके ऊपर एकदम आपत्ति का पहाड़ सा टूटा। कर्ज का ब्याज इतना ज्यादा हो गया कि उसे चुका पाना बड़ा मुश्किल हो गया। उसकी तीन-तीन लड़कियाँ बीस-बाईस साल की थीं। अब उसके सामने बड़ी समस्या आ गई कि करे तो क्या करे ? परिस्थिति ऐसी नहीं कि कर्ज चुका सके। लोग धमकी पर धमकी दे रहे हैं। कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा था। उसने इन्दौर की जैन समाज के आगे गुहार लगाई। समाज के कर्णधारों ने उसे सहयोग देने के नाम पर एक पत्र लिख दिया, कि इसे सहयोग दिया जाये। वह पत्र लिखकर समाज ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर ली। उसे थोड़ा-बहुत सहयोग मिला पर उससे काम नहीं चला। इधर सामने वाले की धमकियाँ बहुत ज्यादा हो गईं तो इन्दौर से भागकर जबलपुर आ गया। जबलपुर में आ कर उसने एक मुसलमान की दुकान पर काम करना शुरू कर दिया। नौकरी कर रहा था। छोटी-सी नौकरी थी। जब उसने उस मुसलमान को अपनी आप बीती सुनाई तो उस मुसलमान भाई ने कहा कि यदि तुम इस्लाम धर्म को कबूल कर लो तो हम तुम्हारा सारा कर्जा लौटा देंगे। मरता क्या न करता। कहते हैं ना कि पापी पेट के पीछे मनुष्य सब कुछ कर लेता है। उसके मन में आया कि इस तरह की स्थिति है तो क्यों न मैं इस्लाम को स्वीकार कर लूँ। अभी मन उसका बन ही रहा था कि तभी उसकी आत्मा ने उसको कचोटा और उसने सोचा कि इस तरह धर्म परिवर्तन करने से अच्छा है कि मर ही क्यों न जाऊँ। और उसने आत्महत्या करने का निर्णय ले लिया।

बच गया एक निर्दोषी जीवन

आत्महत्या करने के इरादे से वह जबलपुर के भेडाघाट पहुँच गया। भेडाघाट में वह कूदने की इच्छा कर ही रहा था कि तभी उसके मन में एक नया विचार आया। पता नहीं कहाँ से उसका पुण्योदय आ गया कि मरने जा रहा हूँ, कम से कम जाते-जाते आचार्य महाराज के दर्शन कर आऊँ। बिना टिकिट यात्रा करके वह अमरकंटक

पहुँचा। अमरकंटक में वह दर्शन कर ही रहा था कि ऐसे ही इस विषय में उसने एक क्षुल्लक जी से चर्चा कर दी। तीन दिन वहाँ रहा। वह क्षुल्लक जी उसे मेरे पास लेकर आये। मैंने जब उसकी बात सुनी तो मुझे बड़ी पीड़ा हुई कि यह क्या होने जा रहा है ? मैंने जाकर आचार्य महाराज से कहा - महाराज, ऐसी-ऐसी बात है। पहले मैंने जबलपुर के लोगों से सम्पर्क करवाया कि जिसके यहाँ यह आदमी काम करने की बात कर रहा है, वह सही है या नहीं। इसमें कितनी वास्तविकता है ? जब मालूम किया तो पाया कि यह आदमी सही बोल रहा है तो फिर हम पुनः आचार्य महाराज के पास गये। आचार्य महाराज ने कहा कि देखो, इनके लिये कोई सहयोग की व्यवस्था कराओ। उस व्यक्ति के लिये जबलपुर के लोगों से कह करके सहयोग दिलाया गया। आज वह आदमी फल-फूल रहा है। उसके जीवन में कुछ परिवर्तन भी आ गया है।

आखिर क्या कर्त्तव्य हमारे ?

बन्धुओ, यह तो एक उदाहरण है, जो हमें समाज की एक तस्वीर दिखाता है। संयोगतः उस व्यक्ति का पुण्योदय था तो वह हमारे पास आ गया। पर समाज में ऐसे न जाने कितने लोग होते होंगे, जो इस प्रकार की विपत्तियों से ग्रसित हो जाते होंगे, उनको कितनी अधिक परेशानी होती होगी ? इन सब चीज़ों का हमें आकलन करने की ज़रूरत है। एक सम्यग्दृष्टि सच्चा धर्मात्मा हमेशा इस तरह की स्थितियों को देखता है और सोचता है कि उनके लिये वह क्या कर पा रहा है ? उसके पास व्यवस्था क्या है ? जब तक हम इस प्रकार की बातों के प्रति सजग नहीं होंगे, तब तक समझ लेना कि हम धर्म की बातें तो ज़रूर कर रहे हैं, पर हमारे अन्तरंग में अभी सही मायनों में धर्म का आविर्भाव नहीं हुआ है। चाहे आर्थिक कारण हों, चाहे शारीरिक कारण हों या पारिवारिक कारण हों।

फटकार नहीं प्रोत्साहन दें

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूँ, जिसकी माँ की मृत्यु हो जाने के बाद वह मुसलमान बन गया। एक भाई आज भी मजदूरी कर रहा है। उनके भीतर के सारे

संस्कार ही नष्ट हो गये हैं और कारण मात्र इतना था कि पिता ने गैर जैन से शादी की थी। उस पिता को घर-परिवार से बाहर निकाल दिया गया। माँ की मृत्यु के बाद घर से सारे संस्कार ही चले गये। बन्धुओ, हमारा धर्म यह नहीं कहता कि कोई व्यक्ति यदि किसी कारण से चूक रहा है तो हम उसे दुत्कार करके बाहर कर दें। दुत्कारने की बात हमारा धर्म हमें नहीं सिखाता है। हमारा धर्म तो हमेशा पुचकार कर सुधारने की बात करता है। हम प्रेम से पुचकारें और उसे सुधारने की बात सोचें। हर गिरे से गिरे व्यक्ति में सम्हलने की संभावना होती है। यदि हमारे मन में सामने वाले के प्रति सदाशय है तो कितना भी पतित व्यक्ति क्यों न हो हम उसे शिखर पर पहुँचा सकते हैं। यदि हमारे अन्दर सदाशयता नहीं है तो हम उस व्यक्ति को कभी भी सम्हालने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। सदाशयी बनें और लोगों को सम्हालने की कोशिश करें।

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना

स्थितीकरण अंग हमसे यही कहता है कि हम स्वयं की स्थिरता के साथ दूसरों की स्थिरता का भी ध्यान रखें। एक भी धर्मात्मा यदि किसी भी कारण से धर्म के मार्ग से स्खलित हो तो उसे देखकर हमारे मन में हार्दिक पीड़ा होनी चाहिये। बन्धुओ, आप देखिये हमारी समाज में कई तरह की स्थितियाँ होती हैं, जिसके कारण लोग अपने मूल धर्म से च्युत हो जाते हैं और हम अपने कट्टरपंथी रवैये के कारण लोगों को धर्म से विमुख कर देते हैं। हमारा धर्म यह हमें कभी भी नहीं सिखाता है। हमारा धर्म हमें पाप से घृणा करने की बात करता है, पापी से घृणा करने की बात कभी नहीं करता है। कोई कितना भी पतित से पतित क्यों न हो, उसके प्रति हमारे हृदय में प्रेम हो और उसके सुधार की भावना हो तो गिरे से गिरे व्यक्ति को भी ऊँचा उठाया जा सकता है। यदि उसके प्रति हमारे मन में सदाशयता न हो तो उस व्यक्ति के नीचे गिरने में भी देर नहीं लगती। बन्धुओ, हम उस बात को समझकर चलें और अपने जीवन के क्रम को आगे बढ़ाने का प्रयास करें। निश्चित रूप से वह हमारे जीवन की उपलब्धि होगी।

साधर्मी की खाली थाली कभी आपने दृष्टि डाली ?

स्थितीकरण अंग हमें यही कहता है कि किसी भी कारण से यदि कोई च्युत हो रहा है तो स्वयं को स्थिर करते हुये सामने वाले को भी स्थिर करने का प्रयास करो। कोई कहीं से भी चूक रहा है तो उसे स्थिर करने का प्रयास करो। देखिये आपकी समाज में ऐसे लोग हैं जो बहुत गरीब हैं, जिनके पास भोजन करने की भी दो समय की व्यवस्था नहीं है। जो अत्यन्त अर्थाभाव में जी रहे हैं, उनके लिये आपके मन में कुछ है ? ऐसा आपने कभी विचार किया ? ठीक है कि आपके आसपास ऐसे लोग नहीं होंगे और होंगे भी तो विचारे अपना मुँह नहीं खोल सकते होंगे। लेकिन आपको मैं समाज की ऐसी भी तस्वीर दिखाऊँतो आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे कि समाज में ऐसे लोग भी हैं और उनको सम्हालना हमारा कर्तव्य है। जो व्यक्ति जिस रूप में कमजोर है उसे उसी रूप में मजबूती देना, उसे संरक्षण और सहयोग देना हमारा एक बहुत बड़ा दायित्व है।

साधर्मी आपका भाई है और उस साधर्मी को सहयोग देना आपका कर्तव्य बनता है। पहले लोग इन सब बातों का ध्यान रखा करते थे। आज उन बातों को लोगों ने अनदेखा कर दिया है। एक समय था जब समाज में यदि किसी को जीविका का अभाव होता था तो लोग उसे आजीविका देने के लिये तुरन्त तत्पर हो जाते थे। आज लोगों में कहीं से भी साधर्मी बन्धुओं के प्रति इस तरह की चिन्ता नहीं है। इसी कारण पहले समाज में जो मजबूती और पहचान थी आज वह पहचान खोती जा रही है।

धार्मिक वत्सलता का अनुकरणीय उदाहरण

पहले जब मैं मुर्शिदाबाद में था तो अणंगाबाद के ताराचन्द्र जी ने मुझसे जो कहा उसे सुनकर मैं बड़ा अभिभूत हुआ। मैंने जब उनसे पूछा - आप लोग यहाँ पर कैसे बसे ? उन्होंने कहा - महाराज, यहाँ बसने की कहानी बड़ी विचित्र है, यदि आप सुनोगे तो आपको आश्चर्य होगा। उन्होने कहा - हमारे दादा-परदादा राजस्थान से आये थे। वे दो लोग मात्र थे। यहाँ एक श्वेताम्बर बन्धु की जागीरदारी चलती थी।

उनको मालूम पड़ा कि दो मारवाड़ी भाई व्यापार की तलाश में यहाँ आये हैं। अणंगाबाद से रामपुर हाट काफी दूर पड़ता था। उनको इतना ही मालूम पड़ा कि मारवाड़ी भाई व्यापार की खोज में यहाँ आयें हैं तो उन्होंने तुरन्त अपना आदमी भेज दिया और कहा कि जाओ उनको यहाँ ले आओ। उनको बुलाया अपनी गद्दी में ठहराया, खाना खिलाया और माल देकर कहा कि माल बेचो। फायदा अपने पास रखो और आराम से रहो। थोड़े ही दिन में उनका कारोबार सम्हल गया। आज उन दो लोगों की वजह से अणंगाबाद जैसे शहर में जैनों के 25 परिवार हैं और बड़ी सम्पन्न स्थिति में हैं। बन्धुओ, यह एक दृष्टि है। यदि किसी एक ने किसी दूसरे को सहारा दिया तो वह आगे बढ़ गया और यदि हम सहारा नहीं देंगे तो वह कहीं से भी आगे नहीं बढ़ सकता है। स्थितीकरण अंग का मतलब केवल दर्शन, ज्ञान और चारित्र में सहारा देना नहीं है, बल्कि हर प्रकार से समाज के प्रत्येक घटक को मजबूती प्रदान करना है। क्योंकि जब तक व्यक्ति की बाहरी आवश्यकतायें पूरी नहीं होती हैं तब तक वह ठीक ढंग से धर्मध्यान नहीं कर सकता है। प्रत्येक धर्मात्मा को न केवल अपने धर्मध्यान की चिन्ता होनी चाहिये, अपितु अपने धर्मध्यान के साथ-साथ सामने वाले के धर्म की व्यवस्था बनाने की भी ज़रूरत है। वह अपनी धर्माराधना ठीक से करता रहे, यदि ऐसी दृष्टि हमारे अन्दर जम जाती है तो समाज में एक भी व्यक्ति कमजोर नहीं रह सकता है।

भूखे पेट भजन नही होता

लेकिन हम क्या कहें ? आज लोग बोलियों के रूप में तो लाखों रूपये देने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन अगर किसी साधर्मी को थोड़ी-सी भी राशि देने की आवश्यकता हो तो लोग आगे-पीछे देखने लग जाते हैं। दूसरों की बात तो जाने दीजिये। आज तो सगे भाई की सहायता करने में भी लोग हिचकिचाते हैं। मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जो लाखों रूपये का दान बेहिचक दे रहे हैं, लेकिन अगर उनके भाई के पास दो जून रोटी की आवश्यकता है तो उसे देने के लिये उनके पास टालमटोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बन्धुओ, यह एक प्रकार का दिखावा है।

धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार के दिखावे को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। जो सच्चा धर्मात्मा होता है वह इन सब बातों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ता है और दूसरों को आगे बढ़ाता है। यह उसके जीवन की विशेषता होती है। ऐसे ही हम स्वयं आगे बढ़ें और दूसरों को आगे बढ़ाने के प्रति सचेष्ट रहें तो कहीं भी जाकर हम अपना काम कर सकते हैं।

गाँठ में नहीं दाने, अम्मा चली भुनाने

श्रावकों को हर स्तर पर स्थितीकरण का पालन करना चाहिये। स्वयं का, समाज का और चतुर्विध संघ का स्थितीकरण करना उनके लिये बहुत ज़रूरी है। यह सब उसी के हृदय में हो सकता है, जो स्वयं स्थिर हो। जो स्वयं अस्थिर हो वह दूसरों को कभी स्थिर नहीं कर सकता है। आज हम देखते हैं कि लोग स्थितीकरण तो करना चाहते हैं पर वह जिसको करना उनकी भूमिका के बाहर है। वे स्वयं का स्थितीकरण तो नहीं करते हैं, पर अपने से ऊपर के लोगों का स्थितीकरण करना चाहते हैं।

एक दिन ऐसा हुआ कि एक चींटी बहुत तेजी से भाग रही थी। उसकी सहेली ने पूछा - अरे बहिन, इतनी तेजी से कहाँ जा रही हो ? उसने जबाव दिया - खून देने। दूसरी चींटी ने पूछा - किसको ? उसने कहा - पता नहीं, अभी-अभी ऐक्सीडेंट हुआ है हाथी का। हाथी का ऐक्सीडेंट हुआ उसको खून देने के लिये चींटी जा रही है। जिसके पास एक कतरा खून नहीं है। ऐसे ही जिसके धार्मिक विश्वास का कोई पता नहीं वे दूसरों के धार्मिक विश्वास को स्थिर करने की कोशिश करते हैं। यह बात ठीक नहीं है। बन्धुओ, इन बातों को ध्यान में रखकर हमें चलना चाहिये, तभी हम अपने जीवन के क्रम को आगे बढ़ा सकते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है

एक सूझबूझ सम्पन्न धर्मात्मा व्यक्ति जहाँ कहीं भी होता है तो कैसे बिगड़ती हुई बात को सम्हाल लेता है। इस पर एक प्रसंग मेरे स्मरण में आ रहा है। यह बात आज से लगभग पच्चीस वर्ष पुरानी होगी। खजुराहो में एक मुनिराज आये हुये थे।

वहाँ के लोग उनकी चर्या से घोर असंतुष्ट थे। उन्होंने यहाँ तक निर्णय ले लिया कि इन मुनिराज को कपड़ा पहना देते हैं। बात सतना में पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के कानों तक आई। पण्डित जी ने कहा - ठहरो, कपड़ा पहनाने का निर्णय बाद में लेना, मैं अभी आता हूँ। वह अपने बेटे के साथ सतना से खजुराहो पहुँचे। वे वहाँ जैसे ही पहुँचे, तो उन्होंने लोगों में बड़ा आक्रोश देखा। लोगों ने कहा - यह मुनि हैं ही नहीं। यह मुनि जैसी चर्या ही नहीं करते हैं। रात भर चलते रहते हैं। घास पर लोटते रहते हैं। दिनभर अपने शरीर में कमण्डलु का पानी उडेलते हैं। यह उनकी चर्या ठीक है क्या ? इससे तो धर्म की बड़ी हानि हो रही है। ऐसे मुनि को तो कपड़ा पहना देना ही ठीक होगा। इसलिये हम इनको कपड़ा पहना देते हैं।

बिगाड़ना सरल है, बनाना कठिन

पण्डित जी बड़े समझदार थे। उन्होंने कहा - कपड़ा पहनाना बड़ा आसान है। कपड़ा उतारना बड़ा कठिन है। अनेक जन्मों का पुरुषार्थ करने के बाद कोई व्यक्ति कपड़ा उतार पाता है। पहले मेरे एक प्रश्न का जबाव दो। तुम लोगों ने जो इनको कपड़ा पहनाने का निर्णय लिया है, उससे पहले यह बताओ कि तुममें से किसी ने उनके पास जाकर कभी कुछ पूछा कि महाराज आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? तो लोगों ने कहा - ऐसे साधु से बात की जाती है क्या ? हममें से किसी ने कोई बात नहीं की। हम लोग उनसे बात करना तक पसन्द नहीं करते हैं। पण्डित जी ने कहा - तुम लोग ठहरो, मैं महाराज से बात करता हूँ। तब तक तुम लोग किसी से कुछ भी नहीं बोलोगे। पण्डित जी का उस क्षेत्र में बड़ा प्रभाव था। पण्डित जी मुनिराज के पास गये और उनको नमोऽस्तु किया और उसके बाद कहा कि महाराज श्री बताओ आपको कोई तकलीफ है क्या ? महाराज श्री ने कहा - पण्डित जी क्या बताऊँ ? बड़ी तकलीफ है, शरीर में दाह होती है। पण्डित जी ने कहा - महाराज श्री आपके विषय में जो सुना वह अच्छा नहीं है। महाराजश्री ने कहा - पण्डित जी, तकलीफ तो मुझे भी होती है, पर क्या करूँ मजबूर हूँ। पण्डित जी ने कहा - क्या तकलीफ है ? महाराज श्री ने कहा - पण्डित जी, मेरे पूरे शरीर में दाह होती है। ऐसी दाह माने

आग लग गई हो और उस दाह को शान्त करने के लिये दिन में तो मेरे कमण्डलु में पानी होता है सो उसका पानी उडेलता हूँ और जब रात में कमण्डलु का पानी खत्म हो जाता है तो मुझे मजबूरन घास में लेटना पड़ता है। गर्मी बहुत ज्यादा है और पिछले पाँच-सात दिन से ढंग से आहार नहीं हो रहा है। अन्तराय आ रहा है। पण्डित जी बड़े समझदार थे। उन्होंने कहा - महाराज आपके आहार-वैयावृत्ति आदि का प्रबन्ध करना तो हमारा दायित्व है, पर आप तो महाव्रती हो और बड़े-बड़े परिषहों को सहन करने वाले हो, आपको थोड़ी सी पीड़ा से विचलित होकर अपने संयम का परित्याग करना, तो उचित नहीं लगता है। यह आप जैसे सन्त के लिये शोभास्पद नहीं है। महाराज इस आत्मा ने जो नरकों की बहुत भारी पीड़ा भोगी है, उस पीड़ा से आत्मा का कुछ नहीं हुआ है ? तो इस छोटी-सी पीड़ा से आत्मा का क्या होने वाला है ? महाराज श्री आप पूर्ण निश्चिन्त रहिये आपकी पूर्ण वैयावृत्ति और सेवा हम लोग करेंगे, पर आपसे इतना निवेदन है कि आप अपनी चर्या में स्थिर रहें।

बचा लिया साधु को गिरने से

इतना सुना कि मुनिराज की आँखों से आँसू भर आये। पण्डित जी की आँखें भी भर आईं। वे महाराज की सेवा करके नीचे आये और नीचे आकर के सबसे कड़कते हुये कहा - तुम लोगों ने महाराज को कपड़ा पहनाने का विचार तो कर लिया पर यह नहीं सोचा कि एक मुनि के प्रति हमारा कर्तव्य क्या होता है ? उनको ठीक ढंग से आहार-पानी देना हमारा कर्तव्य नहीं है क्या ? किसी भी मुनि के विषय में तुमने यह निर्णय ले लिया कि वह अपने मार्ग से भ्रष्ट हो रहा है, पर यह नहीं सोचा कि आखिर वह मार्ग से भ्रष्ट क्यों हो रहा है ? खबरदार जो आज के बाद किसी ने इस विषय में अन्यथा बात की तो। उन्होंने वैद्य को बुलवाया। महाराज जी की औषधि की व्यवस्था की और कुछ दिन पण्डित जी वहीं पर रहे। उनकी परिचर्या हुई। और नतीजा यह निकला कि एक सच्चे धर्मात्मा का सानिध्य पाने के बाद एक मुनि को कपड़े पहनाने से बचा लिया गया। उनके रत्नत्रय को बचा लिया

गया। यह समझदारी कहलाती है। यदि आदमी से थोड़ी-सी भी चूक हो जाये तो धर्म के नाम पर अधर्म हो सकता है। अनर्थ हो सकता है। ऐसे बड़े-बड़े अनर्थों से भी बचा जा सकता है। वस्तुतः यदि आपके मन में धर्म के प्रति सच्चा अनुराग होगा, लगाव होगा, तो निश्चित रूप से वह धर्म आपके हृदय में ही नहीं, सामने वाले को भी प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता और यदि ऐसा लगाव नहीं होगा तो आप अपने जीवन में कभी अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं इसलिये अपने जीवन का उद्धार करना चाहते हैं तो आप धर्म के मार्ग में ठीक ढंग से लगें और दूसरों को भी लगाने की कोशिश करें।

अल्पविद्या भयंकरी

हम एक ओर यह उदाहरण देखते हैं और दूसरा एक अन्य उदाहरण देखिये। अल्पज्ञ व्यक्ति की चूक भरी दृष्टि से दूसरे व्यक्ति के जीवन में कैसा अनर्थ होता है ? बनारस में एक मुनिराज थे। उनकी शारीरिक स्थिति बहुत गम्भीर हो गई। उन्होंने समाधि ले ली। अब समाधि तो ले ली पर किसी का सान्निध्य नहीं। दो-तीन दिन तो ठीक चला। अब आयु टिक गई। खाना-पीना छोड़ दिया था। बिना मार्गदर्शन के समाधि लेने से कई बार गड़बड़ियाँ हो जाती हैं। उनके शरीर में दाह होने लगी, पीड़ा होने लगी तो एक विद्वान वहाँ पहुँचे। बनारस तो विद्वानों की नगरी है। विद्वान ने जाकर के उन महाराज से बोला - महाराजश्री ऐसे आर्तध्यान से मरोगे तो कुगति हो जायेगी इससे तो अच्छा है कि आप ड्रिप लगवा लो ताकि धर्मध्यान पूर्वक आपका अन्त हो और उन्होंने महाराज श्री को ड्रिप लगवा दी और उसी अवस्था में महाराजश्री का अन्त हो गया। पूरे जीवन भर की साधना मिट्टी में मिला दी। क्या खोटी सलाह दी ? यदि उसी समय कोई समझदार श्रावक होता तो ड्रिप तो लगाते लेकिन तन में नहीं, मन में। उनके मनोबल को जगा देते तो महाराज जी का उद्धार हो जाता। पर बन्धुओ, जो खुद तैरता है वही दूसरों को तैरा सकता है। जो खुद तैरना नहीं जानता है, वह खुद तो डूबता है और दूसरों को भी डूबो देता है।

जन्मान्ध से उम्मीद करें, सड़क पार कराने की ?

वस्तुत: जिसका खुद मार्ग स्थिर है वह दूसरों को मार्ग में स्थिर कर सकता है, पर जो खुद मार्ग से च्युत हैं, वे दूसरों को कैसे मार्ग में संलग्न करेंगे। लेकिन क्या करें ? आजकल अन्धों को मार्ग अन्धे दिखा रहे हैं। खुद अन्धे हैं, दूसरों को क्या राह दिखायेंगे। हम अपनी आँखें खोले और दूसरों को आगे बढ़ाने की कोशिश करें तब जाकर के हमारा कल्याण हो सकता है। मार्ग हमारे लिये यही सिखाता है और उसकी यही प्रेरणा है, उसी प्रेरणा को लेकर हम चलें। स्थितीकरण अंग हमें हमारे सारे व्यावहारिक कर्तव्यों की बातें सिखाता है। कहीं से किसी भी साधर्मी को किसी भी प्रकार की परेशानी है तो उसे सहारा दो और सहारा देकर उसे आगे बढ़ाने की कोशिश करो। किसी भी व्यक्ति को अगर आप प्यार से सहारा देकर आगे बढ़ाओगे तो गिरते से गिरते हुआ व्यक्ति भी आगे बढ़ सकता है और यदि आपके अन्दर वैसा सद्भाव नहीं है तो आप कभी भी आगे नहीं बढ़ सकते हैं। इसलिये आगे बढ़ें और आगे बढ़ाने की कोशिश करें तो हम जीवन में बहुत बड़ी सफलता अर्जित कर सकते हैं। छोटी-मोटी बातें यदि हमारे जीवन में उतर आती हैं तो वह हमारे जीवन की कामयाबी का आधार बनती हैं।

सैद्धान्तिक बहसें पर मूलभूत चूकें

लेकिन हम क्या करें ? हम सिद्धान्तों की तो बड़ी-बड़ी बातें कर लेते हैं पर मूलभूत कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं कर पाते हैं। यही हमारे जीवन की एक बड़ी चूक है। इस चूक को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। हमें यह संकल्प लेना चाहिये कि धर्म के मार्ग में जब हम आगे बढ़ें तो कोई छोटा और बड़ा नहीं है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा के गुणों से बाहर की संरचना से नहीं। आज लोग बड़ों को बहुत पूजते हैं, छोटो को तो कोई नहीं पूजता है। सब उगते सूरज को नमस्कार करते हैं। जो पीछे गौण हो रहा है उसके पीछे दृष्टि ही नहीं रखते हैं। उसकी तरफ भी बहुत सारे काम हो सकते हैं। आज हमारी जैन समाज में ऐसी व्यवस्था विकसित होनी चाहिये, जो परेशान पीड़ित और असहाय लोगों की व्यवस्था कर सके।

क्यों नहिं जगती ऐसी दृष्टि ?

सन् 1990 की बात है, हम एक शहर में थे। वहाँ एक युवक को अपनी बहिन की शादी करनी थी। वह अच्छा धार्मिक प्रकृति का पुरुष था। वहाँ के मन्दिर में काफी फण्ड था। उसको शादी के लिये पच्चीस हजार रूपये की आवश्यकता थी। उसने समाज वालों से कहा कि थोड़े दिनों में हमारा एक प्लाट बिक जायेगा तो हम आपका कर्जा चुका देंगे। मुझे थोड़े दिनों के लिये पच्चीस हजार रूपये दे दीजिये। एक भी व्यक्ति ने उसकी सहायता नहीं की। उसका एक मुसलमान मित्र था। उसके मुसलमान मित्र ने कहा - हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था है और बिना ब्याज के पैसा दिया जाता है। ठीक है तुम जैन हो इसलिये तुम्हारे लिये तो वह लोग रूपये नहीं देंगे, पर मैं अपने नाम से रूपये उठा लेता हूँ और जब तुम्हारा पैसा आ जाये तो मुझे दे देना। उस युवक ने मुझे यह सब बताया। मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि उस आदमी की आस्था पर क्या असर पड़ा होगा ?

जनकल्याण कोष : स्थितीकरण का व्यावहारिक उपयोग

हम धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं पर ज़रूरतमन्द की सहायता नहीं करते हैं। और वह भी तब जब हम समाज और मन्दिर के पैसों को हुंडियों पर चला रहे हैं। आज हमारी समाज का यही हाल है। हर जगह लाखों रूपये हैं और समाज के ठेकेदार उसे हुंडियों पर चला रहे हैं। ध्यान रखना, ये घोर पाप का काम है क्योंकि भगवान के लिये दिये गये द्रव्य का उपयोग अपने व्यापार में करना पाप है। इसका कभी व्यक्तिगत हित के लिये उपयोग नहीं करना चाहिये। इसका उपयोग जनकल्याण के कार्यों में ही करना चाहिये। देव, शास्त्र, गुरु की सेवा में करना चाहिये। धर्मायतनों की रक्षा में करना चाहिये। हमें आवश्यकता है इस प्रकार के कोष का निर्माण करने की और उस कोष से समाज को आगे बढ़ाने की। तब हम स्थितीकरण अंग के उस व्यावहारिक रूप को समझ सकते हैं।

ऐसी होती समझदारी

जब लोगों की आस्थायें डगमगाती हैं, तब वहीं पर हम गल्ती कर जाते हैं, लेकिन जो समझदार व्यक्ति होता है वह कहीं से भी ऐसे समय में व्यवस्था करता है।

मेरे सम्पर्क में ऐसे भी व्यक्ति आये हैं। ललितपुर में एक बड़ा उदार व्यक्ति था, जिसे व्यापार में घाटा हो गया। उसने सभी लेनदारों से कहा कि - मुझे तो आप लोगों का पैसा देना है आप लोग मेरा मकान-दुकान सब ले लो। मैं झोपड़ी में रह लूँगा। पर लेनदारों में कुछ उसके जैनी मित्र भी थे। उन्होंने कहा - कोई बात नहीं, घाटा लगा है तो तुम हमसे कुछ पैसे और उधार ले लो, और फिर से बिजनिस शुरू करो। आज वह व्यक्ति बड़ी दृढ़ता से डटा हुआ है। उसने सबका कर्जा भी उतार दिया। ऐसी भी दृष्टि होती है।

साधर्मी के प्रति स्नेह

ऐसे लोग भी हैं जो अनुदार हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को मैं जानता हूँ, जिससे एक व्यक्ति ने बीस लाख रूपया लिया। मध्यप्रदेश और बुन्देलखण्ड में गल्ले की रसीद के नाम पर रूपया उधार दिया-लिया जाता है। दृष्टि कैसी होनी चाहिये वह मैं आपको बता रहा हूँ। वेयर हाउस के फार्म के एवज में रूपये ले लेते हैं लोग। तो रूपया लिया, पर उस आदमी ने बेईमानी कर दी। उसने उसी वेयर हाउस के नकली कागज बना करके तीन जगह से रूपया उठा लिये और बीस लाख रूपया खा गया। जिसने पैसे दिये थे जब वह माँगने गया तो उल्टा उसी पर केस आरोपित कर दिया। लेकिन उस आदमी के चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। उसने कहा कि महाराज श्री यह धर्मात्मा आदमी है और धर्मात्मा लोगों की सहायता करना चाहिये, ऐसा हमने आपसे सीखा है। उसने रूपया खा लिया इस बात का हमें दुःख नहीं है, बल्कि इस बात की खुशी है कि रूपया खाया है तो जैनी ने ही खाया है कोई गैर ने नहीं खाया है। बन्धुओ, स्थितीकरण अंग के सन्दर्भ में मैंने आज आपसे थोड़ी सी चर्चा की है, समाज और समाज बन्धुओं के प्रति हमारी क्या भावना होनी चाहिये, यह हमने सीखा है। मैं फिर आपसे कहता हूँ कि यदि हमें कोई धर्मात्मा व्यक्ति दुःखी दिखे तो हम उसे सब प्रकार से सहारा दें, सहयोग दें, संरक्षण दें, ताकि वह स्वयं मजबूत हो सके। व्यक्ति मजबूत होता है तो समाज मजबूत होता है और समाज की मजबूती से धर्म और धर्म की परम्परा मजबूत होती है। बन्धुओ, और ज्यादा न कहकर मैं यहीं पर अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

गया १६-०३-०७

साधर्मी से सदा प्रीति हो

धर्म की धड़कन है वात्सल्य

हमारे शरीर में हृदय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब तक हृदय की धड़कन स्पन्दन है, तब तक जीवन है। धड़कन समाप्त, जीवन समाप्त। सन्त कहते हैं - शरीर में जो स्थान हृदय का है, धर्म में वही स्थान वात्सल्य का है। प्रेम और वात्सल्य हमारे धर्म की धड़कन हैं। उसके रहते हमारे जीवन में धार्मिकता पल सकती है और उसके अभाव में हमारा जीवन धर्मशून्य हो जाता है। जैसे हृदय के स्पन्दन से रहित व्यक्ति का शरीर शव हो जाता है वैसे ही प्रेम शून्य व्यक्ति का जीवन भी शव के समान माना गया है। कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य के अन्तरंग में प्रेम पलता है वही मनुष्य जीता जागता मनुष्य है। बाकी के अन्दर तो केवल श्वासों का आना जाना है। उसके भीतर और कुछ भी नहीं है। चाहे व्यक्ति हो, चाहे परिवार अथवा समाज हो। सबके अन्तरंग में जब तक प्रेम और वात्सल्य है तब तक जीवन है। जहाँ प्रेम शून्यता होती है, वहाँ संवादहीनता होती है और जहाँ संवादहीनता होती है वहाँ सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि -

जा घर प्रेम न संचरे, ता घर जान मशान।
जैसे खाल लुहार की सॉस लेत बिन प्रान॥

प्रेम रहित घर श्मसान-सा

सच है, प्रेमशून्य व्यक्ति के जीवन में संवादहीनता और श्मसान जैसी शून्यता आ जाती है। इसलिये उस घर को जहाँ अनेक लोग रहते हैं, पर एक-दूसरे के प्रति प्रेम का अभाव रखते हैं, उस घर को श्मसान की भाँति कहा है। उदाहरण दिया कि जैसे लुहार धोंकनी को चलाता रहता है। धोंकनी में हवा आती और जाती रहती है। ठीक ऐसे ही लोगों के दिल में धड़कन ज़रूर है पर अन्तरंग प्राण नहीं हैं। वस्तुतः

प्रेमशून्य जीवन शव है और प्रेम जुड़ते ही जीवन में शिवत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है। शव और शिव में ज्यादा अन्तर नहीं है। एक ईकार मात्र का अन्तर है। ईकार लगा देने मात्र से ही शव से शिव बन जाता है। बस उसी ईकार का नाम है प्रेम का संचरण। हमारे हृदय में प्रेम हो, वात्सल्य हो और एक-दूसरे के प्रति स्नेह हो तो समझ लेना कि हमारे अन्तरंग में धर्म निरन्तर पल्लवित होता जा रहा है। धर्म का लाभ न केवल हम ले रहे हैं, अपितु हमारे सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति भी उस धर्म रूप तत्त्व से लाभान्वित होने का सौभाग्य अर्जित कर रहे हैं। उस प्रेम को अपने हृदय में विकसित करते हुये, प्रेम का पाठ पढ़ाते हुये आचार्य समन्तभद्र महाराज ने कहा है -

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

अपने साधर्मियों के प्रति अपने आचार-विचार से मेल रखने वालों के प्रति बिना किसी स्वार्थ और छल के प्रेम रखना, उनका यथायोग्य आदर-सत्कार और सम्मान करना, उनके प्रति आन्तरिक स्नेह रखना, ये सम्यग्दर्शन का सातवाँ अंग वात्सल्य है जिसे हृदय का प्रतीक माना गया है।

वात्सल्य है धर्म की चाबी

यह सम्यक्त्व का हृदय है। कदाचित् आदमी का मस्तिष्क काम न करे, तो भी वह जी सकता है लेकिन हृदयगति रुक जाये तो वह जी नहीं सकता है। सम्यग्दर्शन के अन्य अंगों में कदाचित् कमी हो जाये तो कोई बात नहीं बिगड़ती है, लेकिन यदि वात्सल्य खत्म हो जाये तो सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। कुरलकाव्य में तिरुवल्लुवर लिखते हैं -

अस्थिहीनं यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसः।
तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यं नृकीटकम् ॥

जैसे अस्थि हीन कीड़े को सूर्य अपने तेज से नष्ट कर देता है। ऐसे ही प्रेम शून्य पुरुष को धर्म भी अपने तेज से नष्ट कर देता है। वस्तुतः हमारे अन्तरंग में प्रेम है तो हमें सर्वत्र सफलता मिलती है। यदि इसका अभाव है तो सब कुछ खत्म है।

प्रेम हीन नर की दशा, सूखे तरु मरुभूमि सम

बन्धुओ, उसी मनुष्य के हृदय को हृदय कहा जाता है जिसके अन्दर प्यार हो। कहते हैं -

जो भरा नहीं है भावों से, जिसमें बहती रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसके अन्तस् में प्यार नहीं ॥

प्यार ही हमारे जीवन की पतवार है, इसके बल पर ही हम भवसागर से पार उतर सकते हैं। इसलिये प्रेम की भावना हमारे अन्तरंग में विकसित होनी चाहिये। जैसे मरुस्थल के सूखे ठूठ में कोई कोपल नहीं उगती है वैसे ही प्रेमशून्य मनुष्य के हृदय में धर्म की कोपल नहीं खिलती है। प्रेम हमारे जीवन में माधुर्य का रस घोलता है। यह हमारा आन्तरिक सौन्दर्य है। मनुष्य ऊपर से चाहे कितना भी टिपटॉप क्यों न हो, पर उसका व्यवहार यदि प्रेमशून्य है तो उसका कोई मतलब नहीं है। ऊपर सुन्दर दिखने वाला व्यक्ति यदि असुन्दर व्यवहार करता है तो वह व्यक्ति लोक में कहीं भी सम्मान पाने का अधिकारी नहीं होता है और यदि कदाचित् सौन्दर्य में कमजोर है लेकिन उसका व्यवहार सुन्दर है तो सर्वत्र पूजा-सम्मान और आदर का पात्र बनता है।

प्रेम बनाता जीवन सुन्दर

प्रेम हमारे व्यवहार को सुन्दर बनाने वाला तत्त्व है। वह तत्त्व हमारे भीतर विकसित होना चाहिये। जिस मनुष्य के अन्तर में प्रेम पलता है, उस मनुष्य को कहीं भी तकलीफ नहीं होती है और जिस मनुष्य का चित्त प्रेमशून्य होता है, वह कहीं भी शान्ति नहीं पा सकता है। इसलिये अपने हृदय को प्रेम से भरने की हमारी चेष्टा निरन्तर बननी चाहिये, जिससे हम एक दूसरे के पूरक बनकर आगे चल सकें। बन्धुओ, प्रेम/वात्सल्य एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वात्सल्य शब्द वत्स शब्द से बना है। वत्स का अर्थ होता है बछड़ा। गाय अपने बछड़े के प्रति कितना ज़्यादा प्रेम रखती है। बछड़े को देखते ही गाय का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। ऐसे ही

धर्मात्मा व्यक्ति के जीवन में होता है, वह जब अपने समान किसी धर्मात्मा को देखता है तो उसके हृदय में प्रेम उमड़ पड़ता है। उसके रोम-रोम में प्रेम की पुलकन हो उठती है।

प्रेम करें, अभिनय नहीं

हम अपने मतलब से चाहे जिसके प्रति प्रेम रख लेते हैं पर ध्यान रखना स्वार्थ से प्रेरित होकर प्रकट किया जाने वाला प्रेम, प्रेम नहीं केवल प्रेम का अभिनय है और बिना स्वार्थ के दूसरे के प्रति होने वाला प्रेम ही प्रेम का अनुभव होता है। सन्त कहते हैं कि प्रेम का अभिनय तो हर कोई कर लेता है, पर प्रेम का अनुभव वही करता है जिसके हृदय में निश्छलता होती है। जो सच्चे अर्थों में धर्म को आत्मसात् करके चलता है। उसका जीवन निश्चित रूप से महान बनता है। हम देखें कि हम कर क्या रहे हैं ? हम प्रेम की बात कर रहे हैं, वह प्रेम हमारे अन्दर है भी या नहीं ? ऐसा तो नहीं, कि हम जिसे प्रेम मानकर चल रहे हैं, वह प्रेम के नाम पर केवल फ्रेम बनकर रह गया हो।

प्रेम चाहिये फ्रेम नहीं

सन्त कहते हैं कि प्रेम को, प्रेम का फ्रेम मत बनाओ। प्रेम तो त्याग सिखाता है। प्रेम सर्वस्व नष्ट कर देने के बाद भी प्रसन्न रहने की बात सिखाता है। जिस मनुष्य के मन में प्रेम होता है उसके सम्बन्ध कहीं नहीं बिगड़ते और जिसके अन्तरंग में प्रेम नहीं होता है उसके सम्पर्क कहीं भी बनते नहीं हैं। प्रेम हमारे सम्बन्धों को बनाता है और प्रेमशून्यता हमारे सम्बन्धों को मिटा डालती है। इसलिये यदि अपने सम्बन्धों की सात्त्विकता को बरकरार रखना चाहते हो तो अपने हृदय को प्रेम से भर कर देखो। यह बात सच है कि प्रेम का पाठ पढ़ने वाला व्यक्ति लोगों के स्वार्थों का शिकार बन जाता है या उसे कभी-कभी प्रताड़ना का पात्र भी बनना पड़ता है। लेकिन ध्यान रखना, उस प्रताड़ना के बाद भी उसकी जीत स्थायी ही होती है। उसे कहीं से भी किसी प्रकार का नुकसान नहीं झेलना पड़ता है। इसलिये उस प्रेम के पाठ को पढ़ने की कोशिश हमारी होनी चाहिये।

मिलें दूध में पानी जैसे

एक बार पानी दूध के पास गया और दूध से कहा - तुम्हारा बड़ा मूल्य है, महत्त्व है। तुममें पौष्टिकता है, इसलिये लोग तुम्हें बड़ा मान देते हैं। मैं तो मूल्यहीन हूँ, मेरा तो कोई मूल्य नहीं है। पर मैं स्थान चाहता हूं। क्या आप मुझे अपने में स्थान दे देंगे ? दूध ने कहा - भाई, शरणागत की रक्षा करना तो अपना धर्म है और कोई आता है तो उसका स्वागत करना हमारा कर्तव्य है। दूध ने बड़े प्रेम से पानी को आमन्त्रित किया और अपने में मिला लिया। दूध ने जब पानी को अपने में मिलाया तो पानी भी दूध में घुलमिल गया। दूध पानी एक हो गये। अब जब दूध और पानी मिलकर एक हो गये और थोड़ी देर के बाद हलवाई दूध को तपाने लगा तो पानी के मन में आया अरे, जिसने मुझे शरण दी है, मेरे कारण वह संकट में पड़े ऐसा तो मैं नहीं होने दूँगा इसलिये मैं पहले अपना उत्सर्ग करूँगा। मैं पहले जलूँगा। पानी ने जलना शुरू कर दिया।

जैसे ही पानी ने जलना शुरू किया तो दूध को बड़ा खराब लगा। अरे, शरणागत की रक्षा करना तो हमारा कर्तव्य है, धर्म है। जिसे शरण दी वह मेरे जीते जी संकट में पड़े यह तो कतई संभव नहीं है। यह आग पानी को जला ही नहीं सकती है, मैं अभी आग को ही बुझा डालता हूँ। यह सोच करके दूध एकदम उबल पड़ा। दूध में उफान आ गया कि मैं आज इस आग को बुझा करके रहूँगा। जैसे ही दूध में उबाल आया और हलवाई की दृष्टि उस पर पड़ी, उसने एक चुल्लू पानी उसमें डाल दिया। दूध ने देखा - मेरा साथी आ गया और वह शान्त हो गया।

अहंकार पहले जलता है

एक दिन पानी तेल के पास पहुँचा। तेल के समक्ष जाकर पानी ने निवेदन किया कि भैया तुम्हारा बड़ा मूल्य है, महत्त्व है। लोग बड़ी ऊँची कीमत चुकाकर तुम्हें खरीदते हैं। थोड़ा सा मुझे स्थान दे दो, तुम्हारा क्या बिगड़ेगा ? तेल ने बहुत रौब झाड़ते हुये कहा - तुम्हारी क्या औकात कि तुम मेरे साथ रहो। तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करूँगा। फिर भी पानी ने कहा - भैया, थोड़ा स्थान दे दो, यदि

कृपा कर दोगे तो आपका क्या बिगड़ेगा ? तेल ने तिरस्कार भरी दृष्टि से पानी से कहा - ठीक है, आना है तो आ जाओ। जब पानी तेल में आया तो तेल ऐंठकर उसके सिर पर बैठ गया। अब क्या था ? जब तेल पानी के सिर पर बैठा तो पानी को बुरा तो लगा पर वह चुप रहा, लेकिन जब दिया जलाया गया तो तेल पहले जला पानी का कुछ भी नहीं बिगड़ा। ध्यान रखना, जो व्यक्ति दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाते हैं उनका अस्तित्व सदैव बरकरार रहता है। पर जो पानी एवं तेल की तरह ऐंठते हैं, उनका जीवन यूँ ही नष्ट-भ्रष्ट होता है।

अपना दिल हो दरिया जैसा

ऐंठोगे तो नष्ट हो जाओगे और लोगों को अपनाओगे तो तर जाओगे। हमारा यह वात्सल्य एक-दूसरे को अपनाकर, एक-दूसरे के पूरक बनकर जीने की प्रेरणा देता है। उसी दिशा में आगे बढ़ो। तुम्हारा जीवन धन्य हो जायेगा। महानता का आधार यही है। हम अपने हृदय को आसमान की तरह विशाल बनायें। हृदय को आकाश बनायें। सबको उसमें आत्मसात् करने की वृत्ति रखें। यह तभी संभव होगा जब हमारे हृदय का क्षुद्र स्वार्थ नष्ट होगा। हमारे सोच की संकीर्णता नष्ट होगी। वस्तुतः विशाल हृदयी और व्यापक सोच वाले व्यक्ति ही प्रेम के पात्र बनते हैं। वे स्वयं प्रेम में जीते हैं और सारे संसार को प्रेम बाँटते रहते हैं। सन्त कहते हैं कि जीवन का असली मजा इसमें है कि खुद प्रेम से जिओ और लोगों में प्रेम बाँटना शुरू करो। खुद खुश रहो और लोगों को खुश रखने की कला अपनाओ। यदि इस बात को आत्मसात् कर लेते हो तो तुमसे बड़ा भाग्यशाली इस संसार में कोई नहीं होगा। तुम्हारे पास सब कुछ हो लेकिन यदि प्रेम नहीं है तो सब कुछ होने के बाद कुछ भी नहीं है।

मेरे सम्पर्क में ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो आज करोड़पति हैं, लेकिन एक परिवार में कुल चार ही मेम्बर हैं और चारों मेम्बरों में इतनी ज़्यादा खटपट है कि एक-दूसरे से कोई भी सीधे मुँह बात नहीं करता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि ऐसे व्यक्ति की उपलब्धि किस काम की ? जो अन्दर का सुख-चैन खत्म कर दे। यदि

किसी व्यक्ति के पास भले ही अभाव है, लेकिन एक-दूसरे के प्रति प्रेम है तभी कोई मतलब है। वस्तुतः बाहर की उपलब्धि अर्थहीन है और भीतर की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि है, जो प्रेम और वात्सल्य की भूमिका में प्रकट होती है। यह उपलब्धि किन्हीं भाग्यशाली जीवों के जीवन में ही संभव होती है। इसलिये सन्त कहते हैं कि उस वात्सल्य से अपने आपको जोड़ने की कोशिश करो।

प्रेम में केवल समर्पण

एक-दूसरे के प्रति यदि निश्छल प्रेम तुम्हारे हृदय में है तो उसका मजा ही कुछ और होता है, लेकिन हम लोग हैं जो दूसरों से प्रेम पाने की वाँछा तो रखते हैं पर कभी किसी को प्रेम देने की बात नहीं करते हैं। ध्यान रखना, प्रेम में लेने-देने की बात नहीं होती है। प्रेम में तो केवल अर्पित हो जाने की बात होती है। एक बार हो गया सो हो गया। जहाँ लेन-देन की बात है वहाँ प्रेम सौदा है। जहाँ हार-जीत की बात है वहाँ प्रेम खेल है और मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेम न तो खेल है और न ही सौदा है। प्रेम अन्दर की सात्त्विक अनुभूति है, जो सम्यक्त्व के परिणाम से अभिव्यक्त होती है। वह तुम्हारे भीतर प्रकट हो गई तो ज़्यादा कुछ करने और कहने की ज़रूरत नहीं होती है।

अन्दर किसको बैठाया है ?

व्यक्ति के लिये, समाज के लिये, परिवार के लिये हर भूमिका में प्रेम की आवश्यकता है। जो व्यक्ति इस प्रेम की भूमिका में जीता है उसके जीवन का रस कुछ और होता है। इसलिये आप अपने अन्तरंग को टटोलकर देखिये कि आपके भीतर विस्तार किसको मिल रहा है ? प्रेम को मिल रहा है या घृणा को ? वात्सल्य को मिल रहा है या वैमनस्य को ? आप देखिये कि यदि आपके भीतर आत्मीयता बढ़ रही है तो तय मानकर चलना कि हम सही दिशा में चल रहे हैं। तुम्हारे भीतर का वात्सल्य विस्तार पा रहा है तो तय मानना कि तुम्हारे जीवन की दिशा सही है, लेकिन यदि इसके विपरीत चल रहे हो तो भले तुम दुनिया में कितने भी बड़े और सफल क्यों न माने जाओ, परमार्थ के क्षेत्र में अभी बहुत ज्यादा विफल हो।

मुर्दादिल क्या ख़ाक जिया करते हैं ?

ध्यान रखना, प्रेमशून्य व्यक्ति न केवल परमार्थ में विफल होता है अपितु व्यवहार में भी विफल हो जाता है क्योंकि उस व्यक्ति को कोई भी पूछता नहीं। उस व्यक्ति को कहीं भी सम्मान नहीं मिलता है। उस व्यक्ति को कहीं सत्कार नहीं मिलता है। सम्मान, सत्कार के अभाव में मनुष्य के मन में कहीं भी प्रसन्नता नहीं होती है। प्रसन्नता के अभाव में जीना, नहीं जीने के जैसा ही है। जिस व्यक्ति के चित्त में आनन्द नहीं वह जीते जी ही मुर्दा के समान है। वस्तुत: जीवन का सच्चा रस तो इसी में है कि हम अपने-आपको प्रसन्नता से भरें और इस प्रसन्नता का आधार तो प्रेम है। प्रेम अपनायें और प्रेम बाँटें। जिस प्रकार फूल से खुशबू अपने आप निकलना प्रारम्भ हो जाती है उसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन में प्रेम होता है उसके अन्तरंग से वात्सल्य अपने आप ही प्रकट हो जाता है। लेकिन हम लोग दूसरों से वात्सल्य पाने की बात तो सोचते हैं पर अपने आपसे वात्सल्य देने का ध्यान नहीं रखते हैं।

प्रेम न बोले अनुबन्ध की भाषा

ध्यान रखना, प्रेम करने वाला व्यक्ति किसी से अपेक्षा नहीं रखता है। वह स्वयं निरपेक्ष होकर जीता है और जो निरपेक्ष होकर जीता है उसकी अपेक्षायें स्वयमेव पूरी होने लगती हैं। हम पढ़ते हैं कि -

फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करे।
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहीं कोई मुख से कहा करे॥

सबके प्रति प्रेम फैले, पर याद रखें जहाँ कोई शर्त या आकांक्षा है वहाँ मोह है। **प्रेम में कोई अपेक्षा और आकांक्षा नहीं होती है।** ध्यान रखना, कि अपेक्षा सहित प्रेम में राग का कलंक होता है और अपेक्षा रहित प्रेम वात्सल्य की शोभा को प्राप्त करता है। हम उस वात्सल्य की बात कर रहे हैं जिस साधर्मी वात्सल्य की चर्चा आचार्यों ने की है। वह बिल्कुल अपेक्षाशून्य है। राग तो हम हर किसी के प्रति रख लेते हैं। लेकिन प्रेम किसी विरले के लिये ही होता है और प्रेम का

पात्र कोई-कोई ही बन पाता है। **संसार का हर व्यक्ति रागी बन सकता है लेकिन प्रेमी कोई-कोई ही बन पाता है।**

समझें फर्क राग और प्रेम में

यद्यपि दुनिया के लोग जिन्हें प्रेमी कहते हैं वे भी रागी ही हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि व्यक्ति और व्यक्ति की देह तक सीमित रहती है। ध्यान रखना, व्यक्ति और शरीर तक सीमित रहना रागानुबन्ध है। वह राग की धारा तक ही सीमित रहेगा। प्रेम संकीर्ण नहीं होता है। प्रेम अत्यन्त विस्तीर्ण और व्यापक होता है। **प्रेम सबकी तरफ बँटता है और राग किसी एक की तरफ ही होता है।** इसलिये उस राग से विरक्त होकर के प्रेम, जो वीतरागता के दर्शन कराने वाला है, उसको अपनाने की वृत्ति होनी चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव किसी को बड़ा, किसी को छोटा या किसी को अच्छा और किसी को बुरा नहीं मानता है। वह जानता है कि यह तो बाहर का ढाँचा है। कोई सुन्दर है या असुन्दर, यदि भीतर देखें तो सबके भीतर एक ही तत्त्व है। वह आत्मतत्त्व का अनुरागी होता है। रत्नत्रय का विश्वासी होता है। सम्यक्त्व का आराधक होता है। वह सम्यग्दर्शन से अभिभूत आत्मा का सर्वत्र सत्कार करता है, क्योंकि गुणों के सत्कार से ही गुणियों का सत्कार होता है और वही सच्चा सत्कार है। इस दृष्टि से वह निरन्तर केवल एक तत्त्व की तरफ दृष्टि रखता है। अन्य चीज़ें उसकी दृष्टि में गौण हो जाती हैं। इनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिये सन्त कहते हैं - नि:कांक्ष प्रेम रखो।

राग है आग, प्रेम है दरिया

राग में भी आकर्षण होता है और प्रेम में भी आकर्षण होता है। एक प्रेम वात्सल्य मूलक होता है और एक भावनामूलक होता है। जब व्यक्ति का चित्त किसी वासना से भरा होता है तो वासनाग्रस्त व्यक्ति के चित्त में भी आकर्षण होता है और वासना रहित व्यक्ति के चित्त में भी आकर्षण होता है। दोनों में आकर्षण ऊपर से दिखता ज़रूर है पर दोनों के आकर्षण में जमीन-आसमान का अन्तर होता

है। क्योंकि एक में भोग का निमन्त्रण है और एक में योग का। एक में राग है तो एक में त्याग है। देखो - गाय का दूध भी सफेद होता है और ऑक का दूध भी सफेद होता है पर दोनों को सफेद देखकर एक मत मान लेना। क्योंकि दोनों के गुणधर्म में जमीन-आसमान का अन्तर है। जहाँ गाय का दूध सात्त्विकता का आधार होने के कारण पोषक है, वहीं ऑक का दूध ज़हर है। इसी प्रकार दोनों तरह के प्रेम में आकर्षण तो दिखाई देता है पर दोनों में जमीन आसमान का-सा अन्तर है। **प्रेम में वात्सल्य का विलास है तो राग में वासना का ज़हर है। प्रेम में जीवन का शृंगार है तो राग में जीवन का संहार है।** सन्त कहते हैं - राग का अनुभव तो तुम्हें जन्मान्तरों से होता रहा है। आज तक तुम रागी ही रहे हो इसलिये तुम्हारी आत्मा दागी बन गई। अब प्रेम का पाठ पढ़ो और वासना से ऊपर उठकर वात्सल्य को आत्मसात् करने की कोशिश करो, जिससे तुम व्यक्ति के बाहरी स्वरूप पर नहीं, उसके आन्तरिक तत्त्व पर केन्द्रित हो सको। उसके गुणों के अनुरागी बन सको और अपने गुणों का विकास कर सको।

देह से क्या प्यार करना ? देह तो नश्वर धरा पर

वस्तुत: शरीर तो नश्वर है। इसमें प्रेम करने योग्य है भी क्या ? यदि प्रेम करना है तो आत्मतत्त्व से प्रेम करना चाहिये। सम्पर्क बनाना है तो आत्मिक स्तर का बनाना चाहिये। दैहिक स्तर का सम्पर्क बहुत सहज तरीके से बन जाता है। कदाचित् भावनात्मक स्तर से भी लोग एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं, लेकिन जो वास्तविक जुड़ाव है वह आत्मिक स्तर का जुड़ाव है। जिस मनुष्य का जुड़ाव आत्मिक स्तर का बन जाता है उसका जीवन धन्य हो जाता है। उस आत्मिक स्तर के जुड़ाव की बात हम सोचें। जो हमें अन्तरंग से जोड़ता है। जिसके कारण हमारे जीवन की समुन्नति होती है।

कैसे कटी नाक सूर्पनखा की ?

बन्धुओ, सीता के प्रति श्रीराम का भी जुड़ाव था और रावण का भी जुड़ाव था, लेकिन दोनों के जुड़ाव में काफी अन्तर था। रावण कुछ पल के लिये सीता के

प्रति आकृष्ट हुआ था, लेकिन राम की वृत्ति में अन्तर था। लक्ष्मण भी सीता के साथ बहुत समय तक रहे पर लक्ष्मण का उनके प्रति भक्ति का जुड़ाव था। रावण का जो जुड़ाव रहा वह एकदम विपरीत प्रकार का जुड़ाव था इसलिये रावण कलंकित हो गया। सीता भी श्रीराम की अनुरागिनी थीं और कुछ समय के लिये शूर्पनखा भी श्रीराम की अनुरागिनी थी। लेकिन दोनों के अनुराग में बहुत अन्तर था। यह आप सब जानते हैं। यह कथा आपने सुनी होगी कि शूर्पनखा का पुत्र शम्बूककुमार जब बॉस के बीणे में छिपकर चन्द्रहास खड्ग सिद्ध कर रहा था, संयोगवश लक्ष्मण उधर से निकले, उसी समय तलवार प्रकट हुई। शम्बूककुमार को पता नहीं लगा। लक्ष्मण ने सहज रूप से तलवार का आह्वान किया। तलवार लक्ष्मण जी के हाथ में आ गयी। तलवार की परीक्षा तो उसकी धार से होती है तो मात्र उसके परीक्षण के लिये लक्ष्मण ने उस बीणे में प्रहार किया। एक ही प्रहार में बीणा कट गया और बीणे के भीतर उल्टे लटके शम्बूककुमार का धड़ भी अलग हो गया। लक्ष्मण एकदम सकपका गये कि यह क्या अनर्थ हो गया। बिना चाहे आखिर यह कैसे हो गया ? लेकिन क्या किया जा सकता था। कुछ किया नहीं जा सकता था। अंजाने में एक की हत्या हो गई। निराश मन से लक्ष्मण आये और श्री राम को सारी कहानी सुना दी।

इज़्ज़त की नाक : नाक की इज़्ज़त

इधर शूर्पनखा अपने पुत्र को भोजन देने के लिये पहुँची तो बेटे को मरा देख विलाप करने लगी। इधर-उधर देखा कि आखिर कौन है मेरे बेटे का हत्यारा ? लक्ष्मण जी के पदचिह्नों को देखते-देखते वह सीधे श्री राम की कुटिया की तरफ चली गई और जैसे ही श्रीराम का रूप देखा तो मुग्ध हो गई। भूल गई अपने बेटे का वियोग। जो अपने बेटे के हत्यारे की खोज करने गई थी वह श्री राम को देखते ही अपने भीतर छुपे मातृत्व की हत्या कर बैठी और उसने श्रीराम से प्रणय निवेदन कर डाला। सारी लज्जा और मर्यादा को लाँघकर उसने श्रीराम को प्रणय का प्रस्ताव दे डाला। कहते हैं रामचन्द्र जी ने उसे लक्ष्मण की तरफ भेज दिया। लक्ष्मण जी को इतना गुस्सा आया कि उन्होंने उस मर्यादाहीन शूर्पनखा की नाक काट दी। ऐसा

कहते हैं। पर मैं यह नहीं मानता कि लक्ष्मण जी ने शूर्पनखा की नाक काटी होगी। क्योंकि कोई भी क्षत्रिय किसी भी निशस्त्र और स्त्री पर अपने अस्त्र का प्रयोग नहीं करता है। लक्ष्मण जी ने शूर्पनखा की नाक नहीं काटी फिर भी उसकी बात नहीं मानने से नाक कट गयी। इसका मतलब जानते हो क्या है ? शूर्पनखा की नाक काटने का मतलब केवल इतना है कि कोई स्त्री सारी मर्यादा और लज्जा का परित्याग करके पर-पुरुष के पास जाकर सामीप्य का निवेदन करे और वहाँ से ठुकरा दी जाये इससे बड़ी नाक उसकी क्या कटेगी ? इसलिये बन्धुओ, मैं तो यही कहता हूँ कि नि:कांक्ष प्रेम लाज बढ़ाता है और साकांक्ष प्रेम नाक कटाता है। थोड़ा देखना कि तुम लाज को बढ़ाने वाले हो कि नाक को कटाने वाले हो ?

प्रेम की विशालता : भाभी में माँ का रूप

अभी तक नाक को कटाने वाले काम ज़्यादा हुये हैं। लाज को बढ़ाने वाले कम। थोड़ा लक्ष्मण जी को देखो, इतने समय तक सीता जी के साथ रहे और कभी नज़र उठाकर ऊपर नहीं देखा। रिश्ते में तो सीता भाभी थीं। लेकिन उन्होंने भाभी में माँ का रूप देखा। जब सीता जी का अपहरण हो गया और वह अपने सारे आभूषण उतार-उतार कर नीचे गिराने लगीं, यह सोचकर कि इधर से श्रीराम निकलेंगे तो मेरे आभूषण देखकर समझ जायेंगे कि सीता को इधर से ले जाया गया है। रामचन्द्र जी की निगाह जब आभूषणों पर पड़ी तो वह लक्ष्मण से पूछते हैं कि देख यह केयूर सीता का है ? यह कुण्डल सीता का है ? यह हार सीता का है ? लक्ष्मण मौन। कोई जबाव नहीं। एकदम मौन रहे। खोजते-खोजते जो सौभाग्य का चिह्न बिछिया था, उस पर दृष्टि पड़ गई। तुरन्त रामचन्द्र जी ने कहा - लक्ष्मण देखो, यह आभूषण क्या सीता का है ? तब लक्ष्मण ने जो बात कही वह मनन करने योग्य है। उन्होंने कहा -

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

भैया मैं नहीं जानता कि यह केयूर किसके हैं ? यह कुण्डल किसके हैं ? यह हार किसका है ? पर मैं यह पक्का जानता हूँ कि यह नूपुर हैं और यह सीता माता के

ही हैं। क्योंकि जब प्रतिदिन मैं उनकी चरण वन्दना को जाता था तो मेरी उस पर दृष्टि पड़ती थी, इसलिये मैं इसको अच्छी तरह से पहचानता हूँ। कितनी व्यापकदृष्टि रही होगी उनकी ? इतने समय साथ रहकर भी उन्होंने कभी नज़र ऊपर उठाकर नहीं देखा। धन्य है। बन्धुओ, इसमें आपको अतिशयोक्ति लग सकती है। पर लक्ष्मण जैसे विराट व्यक्तित्व को अपने बौने हाथों से नापने की कोशिश न करें। वस्तुत: हम जिस प्रेम की बात करते हैं वह यही है।

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं

आपके हृदय में जब आन्तरिक प्रेम होगा तो आपके सम्पर्क इसी तरह के बनेंगे। जिस मनुष्य के सम्पर्क इस तरह के बनते हैं उस मनुष्य का जीवन ही कुछ अलग होता है। बन्धुओ, प्रेम की डोर से हम सबको बाँध सकते हैं। जिस व्यक्ति का हृदय प्रेम से भरा होता है, हर कोई उस व्यक्ति के प्रति पागल होता है। उसके प्रेम से प्रेरित होकर के बुरा से बुरा व्यक्ति भी बदल जाता है इसलिये सन्त कहते हैं कि कभी किसी के प्रति घृणा मत करो, प्रेम करो। वात्सल्य अंग का मतलब ही यही है। पण्डित आशाधर जी ने एक बहुत अच्छी बात कही है **- नाम का जैनी भी काम का है। आज नहीं, कल सुधरेगा।** किसी आदमी को बीमारी होती है तो हम उसके रोग की चिकित्सा करते हैं, न कि रोगी की। बीमारी है तो बीमारी को तो हम दूर करते हैं और बीमार व्यक्ति की सेवा करते हैं इसलिये सन्त कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति कितना भी पतित से पतित क्यों न हो, उससे घृणा मत करो। उसके प्रति मन में यदि सद्भाव है तो आज नहीं तो कल उसका सुधार हो जायेगा। आपके घर-परिवार से लेकर समाज में कई तरह के लोग हो सकते हैं जिनके व्यवहार और बर्ताव से आपके मन में असंतुष्टि होगी। साधारणतया हम ऐसे व्यक्तियों से दूरी बढ़ा लेते हैं। पर जिस व्यक्ति का हृदय वात्सल्य के रस से भीगा हुआ होता है वह व्यक्ति को गले से लगाकर सही रास्ते पर ला देता है। हम उसका भी सत्कार करें।

कोई होता नहीं जनम से पापी

एक ज़माना था जब भगवान महावीर के अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या थी। आज बहुत कम संख्या रह गई है। उसका कारण यही है कि हमने लोगों को

ठुकराना शुरू कर दिया है। लोगों के द्वारा कहीं किसी तरह की चूक हुई और हमने उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल कर एक तरफ कर दिया। वही लोग आज हमसे पूरी तरह से दूर हो गये हैं। यदि प्रेमपूर्ण बर्ताव किया गया होता तो वे लोग आज भी हमारे साथ होते। सन्त कहते हैं - यदि कोई किसी कारण से च्युत हो रहा है, तो उसे स्थिर बनाओ। वस्तुत: स्थितीकरण वही कर सकता है, जिसका हृदय प्रेम और वात्सल्य से भरा हो और जो प्रेम और वात्सल्य से रहित होगा वह किसी को भी स्थिर नहीं कर सकता है। वस्तुत: प्रेमशून्य व्यक्ति को खुद के स्थितीकरण की ज़रूरत है, दूसरे की बात क्या करें ? वह खुद बीमार है, तब दूसरों का इलाज क्या करेगा ? स्वस्थ व्यक्ति ही दूसरे के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है। अपने भीतर के स्वास्थ्य को विकसित करने की कोशिश हमारी होनी चाहिये। हर व्यक्ति के प्रति सकारात्मक दृष्टि रखो। किसी को कभी भी ठुकराओ मत। बिगड़े से बिगड़े व्यक्ति में भी सुधार की संभावना होती है। मैं तो हर वक्त कहता हूँ - **हर सन्त का एक अतीत होता है और हर अपराधी का एक भविष्य होता है। सन्त जनम से संत नहीं होता और हर अपराधी अनन्तकाल तक अपराधी बना रहे, ऐसी संभावना नहीं होती है।**

आचार्यश्री की विशाल हृदयता

अतीत में सन्त भी कभी अपराधी रहा है और आज जो अपराधी है वह सन्त क्या परमात्मा भी बन सकता है। यदि व्यक्ति उसे सुधारने की कोशिश करे। यह सारी संभावनायें हमारे भीतर ही हैं। सारे गुणों को यदि हम अपने अन्दर रखते हैं तो पतित से पतित व्यक्ति का उद्धार किया जा सकता है। एक बार एक सज्जन ने आचार्य महाराज से प्रश्न किया - महाराज, बहुत सारे ऐसे लोग हैं जो व्यसनी हैं और ऐसे लोग आपका कमण्डलु पकड़कर चलते हैं, यह अच्छा नहीं लगता ? आचार्य महाराज ने बहुत सहजता से उत्तर देते हुए कहा - भैया, मरीज अस्पताल में नहीं आयेगा तो कहाँ जायेगा ? उसकी तो अस्पताल में ही ठीक होने की संभावना है। यह बात ठीक है कि वह व्यक्ति सिर पर बिठालने लायक नहीं है। पर यह भी बात ठीक नहीं है कि हम उसको घसीटकर बाहर निकाल दें। सबको गले लगाना

चाहिये। सबको साथ लेकर चलने की कोशिश कीजिये। देखिये कितना काम होता है।

गलतियाँ किससे नहीं होतीं ?

हमें एक सत्य घटना से प्रेरणा लेनी चाहिये। फलटन के एक जैन परिवार की घटना है। व्यक्ति के अन्दर प्रेम हो तो बिगड़े से बिगड़े हुये व्यक्ति को भी रास्ते पर कैसे लगाया जा सकता है, यह मार्मिक घटना आपके हृदय को परिवर्तित कर डालेगी। एक जैन परिवार था और परिवार के प्रमुख सप्तम प्रतिमाधारी थे। पर यह दु:संयोग था कि उनका एक पोता व्यसनी था। वह न केवल व्यसनी बना बल्कि एक वेश्या के प्रति अनुरक्त होकर उसके ही घर पर रहने लगा। पूरे परिवार को इस बात से बड़ी पीड़ा हुई। लेकिन क्या किया जा सकता था ? सारा परिवार धार्मिक लेकिन एक ऐसा कुल-कलंकी हुआ, जिसने पूरे कुल पर कलंक लगा दिया। वर्षों बीत गये और वह वेश्या के यहाँ रहता रहा। परिवार के प्रमुख को बड़ी पीड़ा थी। उसे कई बहानों से बुलाने की कोशिश की गई, पर वह आया नहीं। समय बीतता गया और परिवार के सदस्य उसे भूल ही चुके थे। एक लम्बा अन्तराल बीतने के बाद उस परिवार में शादी का एक मौका आया। जब शादी का मौका आया तो सबको निमन्त्रण दिया गया। परिवार के प्रमुख ने पूछा - क्या सभी रिश्तेदारों को बुला लिया गया ? जबाव मिला - हाँ, सबको बुला लिया गया है। जब सवाल उस बेटे को बुलाने का आया तो लोगों ने कहा - दादा उस कुलकलंकी को हम क्यों बुलायेंगे ? यदि वह शादी में आयेगा तो हम लोगों को क्या मुँह दिखायेंगे ? तब दादा नेकहा - नहीं बेटे, खून के रिश्ते ऐसे भुलाये नहीं जाते हैं। मैं कहता हूँ कि उसको बुलाओ। लोगों को बड़ा अटपटा लगा। कैसे बुलाया जाये, पर दादा जी का प्रभाव परिवार पर ऐसा था कि उनके आगे किसी को बोलने की हिम्मत नहीं हुई। अनमने भाव से एक लड़के को उसके यहाँ भेजा गया। लड़का गया और दूर से ही उसने छत पर उसको देख लिया। लड़के ने नीचे से ही आवाज दी कि शादी है, दादा जी ने बुलाया है, आना हो तो आ जाना। उसने तुरन्त ही तिरस्कार भाव से उत्तर दिया - कह देना फुर्सत नहीं है। लड़का वापस घर लौट आया।

मिलता प्यार प्यार देने से

निश्चित तिथि के दिन शादी हुई। सारे लोग आये पर उस वृद्ध की आँखें केवल उसे ही खोजती रहीं। वह नहीं दिखा। तब दादा जी ने अपने बच्चों को बुलाया और पूछा - क्यों तुम गये थे उसको बुलाने के लिये। बच्चों ने कहा - हाँ गये थे। दादा जी ने कहा - फिर भी वह आया नहीं ? उन्होंने कहा - कैसे आयेगा ? अरे वह किस मुँह से आयेगा ? उसके अन्दर पाप है वह आ नहीं सकता है। दादा जी ने पूँछा - तुम उसको बुलाने गये थे या नहीं ? लोगों ने कहा - हाँ, हम गये थे। बोले क्या कहा था ? परिवार वालों ने कहा - कह दिया था कि दादा जी ने बुलाया है, शादी है आना हो तो आ जाना। तब दादा जी ने कहा - बेटे घृणा से किसी का प्रेम नहीं पाया जाता है। प्रेम से प्रेम पाया जाता है। कोई बात नहीं, चलो मैं जाता हूँ उसे बुलाने। सबके सब लोग हतप्रभ रह गये। उन्होंने अपनी लाठी उठाई और सीधे उसके घर की ओर चल दिये। वेश्या के घर की ओर।

प्यार ने गिरते को सँभाला

एक बुजुर्ग, सात प्रतिमाधारी, वह वेश्या के घर की तरफ जा रहा है। सब लोग एकदम अवाक् से खड़े हैं। उनको कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। वे आगे बढ़े और जैसे ही वेश्या के घर के नजदीक पहुँचे, उस लड़के ने अपने दादा जी को आते देखा तो उसे समझ में आ गया कि दादा जी मुझे ही बुलाने के लिये आ रहे हैं। वह फौरन नीचे उतरा और अपने दादा जी के चरणों में गिर पड़ा। उसकी आँखें भर आईं। लड़का बोला - दादा जी मुझे माफ करना, क्योंकि मैंने आपकी प्रतिष्ठा को धूमिल किया। मैंने आपके कुल को कलंकित किया। लेकिन आपके हृदय में मुझ जैसे कुलकलंकी के प्रति प्रेम है इस बात ने मुझे आपका कायल कर दिया है। मैं आपका कायल हूँ दादा जी मुझे माफ कर दीजिये। आजतक जो मैंने किया है उसके लिये मुझे क्षमा कर दीजिये। मैं आज आपके चरणों में संकल्प लेता हूँ कि मैं आज के बाद ऐसा कोई कृत्य नहीं करूँगा जिससे कि आपको नीचा देखना पड़े। आज मैं अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ। दादा जी मेरा उद्धार कीजिये। दादा जी

ने उसे उठाया और अपनी छाती से लगा लिया। कहा - बेटा सुबह का भूला यदि शाम को घर लौट आये तो उसे भूला नहीं कहते। मुझे मेरे खून पर विश्वास था, मुझे मेरे संस्कारों पर विश्वास था कि मेरे दिये संस्कार धूमिल तो हो सकते हैं पर नष्ट नहीं हो सकते। मैं यह मानता था कि आज नहीं तो कल तू ज़रूर आयेगा। और मुझे इसी दिन की प्रतीक्षा थी। वे उसे ससम्मान घर लेकर आ गये। यह दृष्टि की विशालता का सुन्दर उदाहरण है।

सत्कार दें, फटकार नहीं

ऐसी विशालता यदि हमारे जीवन में आ जाये तो हमारा जीवन धन्य हो जाये। हम व्यक्ति को जितनी जल्दी प्रेम से बदल सकते हैं, फटकार से नहीं। इसलिये प्रेम हमारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिये। यह हमारी आत्मा की आन्तरिक चेतना है। इसकी तरफ हमें देखना चाहिये। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो उसके पाप से घृणा करो, पर उस व्यक्ति के लिये अपने अन्तरंग में स्थान बनाकर रखो। मैं कहना चाहता हूँ कि घर में हम एक फटा हुआ कपड़ा केवल इसलिये सम्हाल कर रखते हैं कि फर्श साफ करने के काम आयेगा। भैया, समाज का यदि कोई अंग कटा-फटा है तो उसे भी सम्हाल कर रखो, वह भी कहीं काम में आयेगा ही। उसका उपयोग करो। सबके प्रति प्रेम और सहयोग की भावना हो। सबके प्रति समानता का भाव हो। सम्यग्दर्शन का वात्सल्य अंग हमें यही कहता है कि ऐसी भावना हमारे अन्दर होनी चाहिये।

धर्म भी लेता, धर्मी का आश्रय

बन्धुओ, धर्म और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। ऐसा मैंने कल आपसे कहा था। समाज के बिना धर्म को संरक्षण नहीं मिलता और धर्म के अभाव में समाज में अनुशासन नहीं रहता है। दोनों चीज़ें साथ-साथ चलती हैं। इसलिये इनको हम साथ-साथ लेकर चलें। आचार्य समन्तभद्र की यह उक्ति बहुत ही ज्यादा उपयोगी है - **न धर्मो धार्मिकैर्बिना**। धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं टिकता है। धर्मात्मा जब एक-दूसरे से मिलकर रहते हैं तभी उनमें संगठन रहता है। तभी

उनमें सहयोग की भावना बनती है। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो सब कुछ नष्ट हो सकता है। इसलिये उस वृत्ति को आत्मसात् करने की परिपूर्ण कोशिश होनी चाहिये। निश्चित ही हमारे जीवन में एक बहुत बड़ी उपलब्धि घटित होगी। जिस तरह हम शरीर के एक-एक अंग का ध्यान रखते हैं, उसी तरह हमें समाज के एक-एक सदस्य का भी उचित ध्यान रखना चाहिये। शरीर का कोई अंग अगर कमजोर हो जाता है तो आप लोग क्या करते हैं? उसका उपचार करते हैं या नहीं? क्योंकि शरीर का कोई भी अंग यदि कमजोर होगा तो शरीर के प्रायः प्रत्येक क्रियाकलापों में व्यवधान होगा। संत कहते हैं कि इसी प्रकार समाज भी एक विशाल शरीर की तरह है और समाज का एक-एक घटक उसका कोई न कोई अंग है। अगर कोई भी अंग कमजोर है तो उसको संरक्षण देना हमारा दायित्व है।

सम्मान का आधार धार्मिकता : पद नहीं, पैसा नहीं

वह संरक्षण आप तभी देंगे जब आपके अन्दर साधर्मी वात्सल्य होगा। एक ज़माना था जब लोगों का हृदय प्रेम से भरा होता था। समाज के छोटे-बड़े सभी लोगों का सम्मान करना लोग जानते थे। उस समय बिरादरी में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता था। एक ही प्रतिमान हुआ करता था। इसकी धार्मिकता कैसी है? पहले धार्मिकता का आदर होता था। सबको सम्मान मिलता था और आज सिर्फ बड़ों-बड़ों को सम्मान मिलता है। छोटों को जैसा सम्मान देना चाहिये वह नहीं है, क्योंकि हमारी दृष्टि क्षुद्र हो गई है। हम लोगों के बाहरी टिपटॉप को तो देखते हैं, भीतर के तत्त्व को नहीं देखते हैं। बन्धुओ, एक बात ध्यान रखना कि जो आज टिपटॉप दिख रहा है वह कल फुटपाथ पर भी हो सकता है और जो आज फुटपाथ पर है वह कल टिपटॉप हो सकता है। भीतर का जो स्वरूप है वह अपरिवर्तनीय है उसको देख करके चलोगे तो जीवन में कभी विसंगति नहीं आयेगी और उसकी उपेक्षा करोगे तो कभी जीवन में संगति नहीं मिल सकती है इसलिये जीवन की संगति को बिठलाना चाहते हो तो भीतर के तत्त्व पर विश्वास करके चलो।

यह कथा बने जीवन का हिस्सा

एक ही ध्येय होना चाहिये। देखिये कि जीवन का आनन्द कैसा होता है? पहले ऐसा समय था, जब लोग एक-दूसरे के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखते थे। सेठ सुगन्धीदास जी का एक प्रसंग आज के सन्दर्भ में बताना चाहता हूँ। एक साधर्मी व्यक्ति दूसरे साधर्मी व्यक्ति के लिये कितनी व्यापक दृष्टि रखता था। सेठ सुगन्धीदास जी एक बहुत बड़े सेठ थे। उनके पास इतना पैसा था कि राजघराने को भी पैसा देने में समर्थ थे। राजा-महाराजाओं को भी उधार दिया करते थे। एक बार उनके यहाँ किसी खुशी का मौका आया। शादी-विवाह हुआ और शादी-विवाह के बाद जैसे आप घर-घर मिठाई बाँटते हैं वैसे ही सबके यहाँ मीठा बाँटा गया। जब उनके आदमियों ने सब जगह मिठाइयाँ बाँट दीं, तो सेठ साहब ने पूछा - सब घरों में मिठाइयाँ चली गयीं? बोले - हाँ चली गयीं। कोई वंचित तो नहीं रहा? नौकरों ने कहा - वंचित तो नहीं रहा, लेकिन एक आदमी रह गया है। सेठ जी ने पूछा - क्यों रह गया? नौकरों ने जबाव दिया - उसने लेने से इंकार कर दिया है। सेठ साहब ने पूछा - क्यों इंकार कर दिया? कौन है वह? नौकरों ने कहा - एक चना बेचने वाला आदमी है। उसने यह कह करके मना कर दिया कि सेठ साहब से हमारा क्या व्यवहार? जब हमने आज तक सेठ को कुछ दिया ही नहीं, तो हम उनसे ले कैसे सकते हैं? वह आदमी गरीब ज़रूर था पर स्वाभिमानी था। सेठ जी ने कहा - चलो, बग्घी तैयार करो, मैं चलता हूँ अभी उसके यहाँ।

साधर्मी सों प्रीत गोवत्स सम

देखिये सरलता। धर्मात्मा व्यक्ति बाहर के ढाँचे को नहीं देखता है, वह भीतर के स्वरूप को देखता है। बग्घी तैयार हुई। मिठाइयों की टोकरी रखी गई और सेठ जी उसकी दुकान तक पहुँचने से पहले ही बग्घी से उतर गये। वह सीधे उसकी दुकान पर जाकर खड़े हो गये। वह आदमी एकदम चकरा गया, उसके पाँव तले की जमीन खिसक गयी। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें और क्या कहें? सेठ जी तो सीधे गये और एक मुट्ठी चना उठाकर खा गये। चना खाने के बाद कहा - प्यास लग रही है, पानी पिलाओ। अब पानी कैसे पिलाये, सुराही भी तो टूटी-सी है।

सेठ जी ने उसके संकोच को भाँपा और खुद सुराही को झुकाकर अंजुली बनाकर पानी पी लिया। पानी पीने के बाद उनका इशारा पाते ही नौकरों ने मिठाइयाँ सामने रख दीं और कहा - आप इसे स्वीकार करें। उस चने वाले ने अपने दोनों हाथ जोड़े और कहा - सेठ साहब आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? आज तक हमारा आपका कोई व्यवहार नहीं रहा। हमने आज तक आपको कुछ दिया नहीं तो आज ले कैसे सकते हैं। सेठ जी ने कहा - तुम कैसे कह सकते हो कि तुमने आज तक हमें कुछ नहीं दिया। मैंने अभी-अभी तुम्हारा चना खाया है और पानी पिया है। जब मैं तुम्हारा खा-पी सकता हूँ तो तुम्हें भी हमारा रखने का अधिकार है। वह सेठ जी के इस व्यवहार से इतना प्रभावित हुआ कि चरणों में गिर पड़ा। लेकिन सेठ जी ने उसे तुरन्त चरणों में से उठाकर अपने सीने से लगा लिया और कहा कि तुम मेरे चरणों में गिरने लायक नहीं हो, तुम मेरे हृदय से लगाने लायक हो, क्योंकि तुम हमारे साधर्मी हो। यह दृष्टि होती थी पहले धर्मात्मा जनों की। लेकिन आज के लोगों की सोच कितनी बदल गई है।

मूल्यांकन आत्मा का करिये

एक सामान्य साधर्मी की बात दूर है यदि कोई करोड़पति व्यक्ति हो और उसका भाई यदि किसी परिस्थिति वश चारा बेचने वाला हो तो उसके यहाँ मिठाई पहुँचाने की बात तो दूर उसे भाई कहने में भी संकोच होता है। भाई मानना भी लोग पसन्द नहीं करेंगे। हम कैसे कहें कि आज व्यक्ति के हृदय में धर्म है ? केवल एक ऊपरी दिखावा है। अगर तुम्हारे हृदय में धर्म होगा तो तुम व्यक्ति की आत्मा का मूल्यांकन करोगे, बाहर के दिखावे का नहीं। धर्मात्मा व्यक्ति के लिये बाकी बातें महत्त्वपूर्ण नहीं होती हैं आन्तरिक बात को ही महत्त्व देकर वह चलता है और उसी के मूल्य और महत्त्व का आनन्द लेकर के अपने जीवन की गाड़ी को आगे बढ़ाता है। इसलिये बन्धुओ, प्रेम का पाठ पढ़िये। सबका सत्कार करना सीखिये। साधर्मी के प्रति वात्सल्य का भाव रखिये।

वत्सलता : एहसान नहीं कर्त्तव्य हमारा

कल मैंने आपसे कहा था कि आपत्तिग्रस्त लोगों को सहयोग देना हमारा धर्म है।

जैनानां आपद्गतां तस्माद् उपकुर्वन्तु सर्वथा।
यः समर्थोऽपि उपेक्षेत्, स कथं समयी भवेत् ॥

यदि कोई व्यक्ति किसी कारण से परेशान है और आप यदि सक्षम हैं तो उसका सहयोग करो। क्योंकि उसके अन्दर वही धर्म तत्त्व है। यदि हम उसे संरक्षण देंगे तो धर्म को संरक्षण मिलेगा। उसको यदि हम सहयोग देंगे तो धर्म को सहयोग मिलेगा। और अगर उसकी उपेक्षा की तो धर्म की उपेक्षा होगी। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा व्यक्ति सबको गौण कर सकता है, पर धर्म को नहीं कर सकता है। ध्यान रखना, दूसरों के प्रति वात्सल्य वृत्ति अपनाकर हम उस पर उपकार नहीं करते हैं, हम स्वयं पर उपकार करते हैं। अपने सम्यग्दर्शन को पुष्ट करते हैं। अपनी धार्मिक भावना को दृढ़ बनाने का सौभाग्य अर्जित करते हैं। यदि हमारा सम्यक्त्व पुष्ट होता है तो हम भवसागर से पार उतरने में सक्षम हो सकते हैं। इसलिये निरन्तर अपनी भावना और वृत्ति को आगे बढ़ाने की इसी तरह कोशिश कीजिये। साधर्मी वात्सल्य एक बहुत बड़ा गुण है। इस गुण को आत्मसात् करने की कोशिश करें। हम एक-दूसरे के प्रति प्रेम रखें। इसकी शुरूआत अपने परिवार से करें।

प्रेरक बनें, प्रतिस्पर्धी नहीं

यदि आपके परिवार में प्रेम होगा तो आप समाज में प्रेम दे पाओगे और जब समाज में प्रेम होगा तभी आपका प्रेम व्यापक हो पायेगा। परिवार के प्रति प्रेम रखो और उस प्रेम को विस्तार देने की कोशिश करो। एक-दूसरे के पूरक और प्रेरक होकर जीने की कोशिश करो। एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी और प्रतियोगी न बनें। आगे बढ़ें और बढ़ करके एक-दूसरे की प्रशंसा करने की कोशिश करें। देखिये जीवन में कितनी ज्यादा आनन्द की अनुभूति होती है और यदि इस बात को गौण करके आप चलेंगे तो जीवन में कभी सफल नहीं हो सकेंगे। सफलता का यही आधार है इसको लेकर आगे बढ़ें। आपके हृदय में प्रेम हो तो बिगड़े से बिगड़े व्यक्ति को भी आप सुधार सकते हैं।

निश्छलता ने बदला हिंसक का भी दिल

एक बहुत पुरानी कहानी सुना करके आज मैं इस प्रसंग को यहीं विराम दे रहा हूँ। हमारा सारा जीवन प्रेम और वात्सल्य से भरा रहे और सारी ज़िन्दगी केवल प्रेम और वात्सल्य की कहानी में बीतती रहे इससे बड़ा आनन्द और क्या हो सकता है ? इस प्रसंग में जो आज के लिये बहुत ज्यादा उपयोगी है कि क्रूर से क्रूर हृदय को भी प्रेम के द्वारा कैसे बदला जा सकता है आप इससे प्रेरणा ले सकते हैं। एक बार ऐसा हुआ कि गाय शेर की गिरफ्त में आ गई। शेर ने गाय को खाना चाहा। गाय ने बड़ी विनय पूर्वक शेर से निवेदन किया - आप मुझे खाना चाहते हैं, तो खा लें पर मैं आपसे थोड़ी-सी मुहलत चाहती हूँ। मेरा दूध पीता छोटा-सा बछड़ा है। साँझ ढलने को है, मेरी राह देख रहा होगा। मैं उससे कहकर आई हूँ कि जल्दी से जल्दी मैं आऊँगी और तुम्हें दूध पिलाऊँगी। वह मेरी राह देख रहा होगा। आप मेरा विश्वास करें। मैं अभी जाती हूँ और उसे दूध पिलाकर आती हूँ। शेर ऐसे विश्वास नहीं करता है, पर पता नहीं उसे क्या हुआ, शायद गाय की निश्छलता ने उसके हृदय में कैसा विश्वास-सा भर दिया। शेर ने कहा - ठीक है, तुम जा रही हो तो अतिशीघ्र आ जाना। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

माँ की ममता, बेटे का त्याग

गाय गई और बछड़े से कहा - बेटे आ जल्दी दूध पी ले। बछड़े ने माँ के चेहरे को देखा तो उस पर बहुत ज़्यादा मायूसी और उदासी थी। बछड़े ने पूछा - माँ आज तुझे क्या हो गया ? आज तुम्हारे चेहरे पर वह प्रसन्नता नहीं है। आज तू इतनी हताश और उदास क्यों है माँ ? गाय ने कहा - कुछ न पूछो, बेटा। तुम बस जल्दी से दूध पीलो, मुझे जाना है। बछड़े ने कहा - कहाँ जाना है ? माँ मैं दूध बाद में पीऊँगा, पहले आप अपनी उदासी का कारण बताओ। तेरा यह रोता हुआ चेहरा देखकरके मुझे दूध नहीं पीना है। मैं तो हँसते हुये रूप को देखना चाहता हूँ। जैसा तू मुझे रोज़ दूध पिलाते समय दिखती थी, वैसी आज नहीं दिख रही है। आज तो तू कोई दूसरी माँ हो गई है। आखिर बता तुझे क्या हो गया है और तुझे कहाँ जाना है ? माँ ने बहुत

टालना चाहा पर बछड़े ने कह दिया कि जब तक तू वास्तविकता नहीं बतायेगी मैं दूध नहीं पीऊँगा। बछड़े द्वारा दूध पीने में विलम्ब देख अन्ततः गाय को बताना ही पड़ा कि आज ऐसा-ऐसा वाकया हुआ है और मुझे शेर के पास जाकर अपना वचन पूरा करना है। बछड़े ने कहा - माँ यदि ऐसी बात है तो मैं भी चलता हूँ। जब तू ही नहीं रहेगी तो मैं रह करके क्या करूँगा। शेर प्रतीक्षा कर रहा था। देखा अरे, एक की जगह दो आ रही हैं। गाय के साथ बछड़ा भी आ रहा है। गाय ने आते ही शेर से कहा कि मैंने अपना वायदा पूरा कर दिया आप जल्दी से मुझे खा लो। जैसे ही गाय आगे बढ़ी बछड़ा उछलकर आगे आ गया कि बेटे के रहते माँ के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हों यह कैसे संभव है ? पहले मुझे खाओ, फिर मेरी माँ को खाना। माँ ने कहा - मैं अपने सामने अपने ही कलेजे के टुकड़े होता देखूँ, यह संभव ही नहीं है। माँ अपने बच्चे का वध अपने सामने नहीं देख सकती। इसलिये पहले आप मुझे खाओ फिर आप उसे खाना।

प्रेम के आगे, हारी हिंसा

अब क्या हुआ, शेर गाय को खाने आये तो बछड़ा आगे आ जाये और शेर बछड़े को खाने आगे आये तो गाय आगे आ जाये। ऐसा ही चलता रहा। ऐसा दृश्य देखकर शेर का भी हृदय पसीज गया। इन दोनों में इतना प्रेम है ? इनको खा करके गुनाह करना ठीक नहीं। शेर का हृदय बदला और उसने कहा - कि तुम दोनों के प्रेम ने मुझे पागल कर दिया है, जाओ मैं तुम दोनों को मुक्त करता हूँ। तुम दोनों स्वतन्त्र हो। बन्धुओ, यह है प्रेम की ताकत, जो शेर जैसे क्रूर से क्रूर जानवर के अन्तःकरण को भी परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखती है। उस प्रेम का हम अनुभव करने की कोशिश करें। यदि एक बार वह अनुभूति हमारे अन्दर घटित हो जाये तो वह हमारे जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। आज आपका समय हो गया है, इसलिये आज इस बात को यहीं समाप्त करके मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

गया १७-०३-०७

साधर्मी से सदा प्रीति हो

भरा प्रेम रस से जब प्याला, नहीं समाती बूँद द्वेष की

दो साधु साथ-साथ रहा करते थे। दोनों में प्रगाढ़ मित्रता और प्रेम था। अचानक एक के मन में कुछ खिंचाव हुआ, विद्वेष की भावना उभरी और उसने अलग होने की ठान ली। उसने अपने साथ रहने वाले छोटे साधु से कहा - अब हम साथ-साथ नहीं रहेंगे, अलग-अलग रहेंगे। छोटे ने अत्यन्त सहज भाव से कहा - जैसा आप ठीक समझें। उन दोनों के पास एक सोने का कटोरा था। उसने कहा - हम अलग हो रहे हैं। हमारे पास एक सोने का कटोरा है, क्या करना है उसका ? छोटे ने कहा - जैसा आप ठीक समझें। नहीं, उस कटोरे को मैं रख लेता हूँ- बड़े ने अधीरता प्रकट करते हुए कहा। छोटे ने कहा - जैसा आप ठीक समझें। वाह, कटोरे को मैं रख लूँगा और तुम कहोगे कि बड़े ने सब अपने पास रख लिया, इसलिए ऐसा करो उस कटोरे को तुम रख लो, - बड़े साधु ने बड़प्पन दिखाना चाहा। छोटे साधु ने पुनः ठण्डा सा जबाव दिया - अच्छा। मैंने कह दिया कि कटोरा तुम रख लो, तो तुम रख लोगे ? ऐसा करते हैं कि कटोरा आधा-आधा कर लेते हैं - बड़े साधु की लोभ भावना दब नहीं पा रही थी। छोटे साधु ने कहा - जैसा आप ठीक समझें। बड़े साधु ने कहा - वाह, यदि कटोरे के दो टुकड़े करेंगे तो न वह तुम्हारे काम का होगा और न हमारे काम का होगा। तो छोटे साधु ने कहा - जैसा आप ठीक समझें। क्या तुम झगड़ना नहीं चाहते ? छोटे साधु ने कहा - नहीं। बड़े साधु ने कहा - छोड़ो, अब कटोरा वहीं रखो, हम साथ-साथ रहेंगे।

आज के सन्दर्भ में यह प्रसंग बहुत ही अधिक प्रेरक है। यदि मनुष्य के मन में किसी के प्रति प्रेम हो तो विद्वेष उभर ही नहीं सकता है। सन्त कहते हैं कि इसी प्रेम की रसधार में अपने चित्त को पगाने की कोशिश करो। जिससे तुम्हारा जीवन माधुर्य से भर जाये। तुम्हारे सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति का मन प्रसन्नता से भर

जाये। और हृदय प्रफुल्लित हो सके। अपने व्यक्तित्व को इस भाँति निखारने की कोशिश करो। यही हमारे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

अभिमान से अकड़े हृदय में, प्रेम टिक सकता नहीं

बन्धुओ, कल मैंने आप सबसे वात्सल्य अंग की चर्चा करते हुये अपने जीवन को प्रेममय बनाने की बात की थी। यदि हमारे हृदय में प्रेम होगा तभी हम दूसरों को प्रेम दे सकेंगे। और वह प्रेम तभी होगा जब हम सबका सत्कार करना सीखेंगे। जिस मनुष्य की सोच व्यापक होती है वह सबका सत्कार कर लेता है, लेकिन जिसकी सोच संकीर्ण होती है और हृदय संकुचित होता है वह किसी को सत्कार नहीं दे सकता है। वह व्यक्ति अभिमान में अकड़ा रहता है। वह सत्कार पाना तो चाहता है पर सत्कार देना नहीं चाहता है। यही कारण है कि आज हमारे मध्य जो प्रेम और आत्मीयता के सम्बन्ध विकसित होने चाहिये, उसकी जगह प्रेम और वैमनस्य के सम्बन्ध बढ़ रहे हैं। व्यक्ति के हृदय में प्रेम और आत्मीयता की प्रगाढ़ता होनी चाहिये। आज उसका स्थान द्वेष, दर्प और दम्भ ने ले लिया है। जब तक हमारे हृदय में अभिमान भरा होगा, तब तक हम सच्चे अर्थों में प्रेम के पात्र नहीं बन सकेंगे। हमारे हृदय में प्रेम कभी प्रकट नहीं हो सकता है।

मत उलझो छोटी बातों में

सन्त कहते हैं कि उस प्रेम से अपने आपको भरो और अभिमान को दूर करके चलने की कोशिश करो। चाहे स्वयं के प्रति हो, परिवार के प्रति हो या समाज के प्रति। तुम्हारा प्रेम धीरे-धीरे विस्तीर्ण होते जाना चाहिये। तुम्हारे प्रेम में व्यापकता आनी चाहिये। मनुष्य का चेतन स्तर जैसे-जैसे व्यापक होता है वैसे-वैसे उसके भीतर का प्रेम भी व्यापक होता जाता है। जिसका चेतन स्तर जितना क्षीण होता है उसका प्रेम उतना ही संकुचित होता है। आज लोग प्रेम की तरफ कम सोच पाते हैं। हमारा जो प्रेम अभिव्यक्त होता है, वह स्वार्थ से प्रेरित होता है। अपनी आत्मा के उत्कर्ष की जो मूल भावनायें हैं, हम उन्हें अनदेखा करके चलते हैं। और क्षुद्र बातों

में अपने चित्त को उलझा देते हैं। जब तक मनुष्य की क्षुद्र वृत्तियाँ नष्ट नहीं होती हैं, तब तक उसके भीतर की सात्त्विकता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। प्रेम हमारे अन्तरंग की सात्त्विक परिणति है जो क्षुद्र दुर्बलताओं के अभाव में प्रकट होती है। उन दुर्बलताओं को दूर करने का हमारा यत्न होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि उसी अभियान में जुटा होता है वह अपने चित्त की एक-एक दुर्बलता को निरन्तर दूर करते हुये अपनी आत्मा को प्रगति के पथ पर अग्रसर करता रहता है। इसी के बल पर उसकी आत्मोन्नति और आत्मा का उत्थान होता है। वह खुद आत्मोन्नयन के मार्ग में लगा रहता है और दूसरे को भी उस आत्मोन्नयन के मार्ग में अनुरक्त देखना चाहता है। सबको अपने से आगे बढ़ता हुआ देख उसके मन में हार्दिक प्रसन्नता की लहर उत्पन्न होती है और यह परिणति प्रेमाभिभूत आत्मा की सबसे विलक्षण विशेषता होती है, जिससे वह भरा होता है। हमारे अन्तरंग में भी ऐसे गुण विकसित हों, ऐसा प्रयास हमें करना चाहिये।

अनदेखा मत करो किसी को, सबकी अपनी जगह नियत है

साधर्मी वात्सल्य जो सम्यग्दर्शन का एक विशेष अंग है, इसे हमें तीन स्तरों पर विचार करने की जरूरत है। सबसे पहली बात यह कि हम एक-दूसरे के प्रति प्रेम रखें, सबका आदर करें। दूसरी बात एक-दूसरे को सहयोग दें और तीसरी बात है कि हम सामाजिक एकता और संगठन की बात करें। जब तक हमारे अन्दर संगठन की वृत्ति नहीं होगी, सहयोग की भावना नहीं होगी और समानता का भाव नहीं आयेगा तब तक हम सच्चे अर्थों में साधर्मी वात्सल्य की जो मूल भावना है उसे आत्मसात् नहीं कर पायेंगे। कल मैंने आपसी समानता को अपनाने की बात करते हुए आप सबसे कहा था कि कोई व्यक्ति छोटा हो या बड़ा उसकी बाहरी संरचना को मत देखो। उसकी आन्तरिक श्रद्धा और आस्था को देखो। यदि धर्म की दृष्टि से उसके अन्दर कुछ भी सद्भाव है तो वह हमारे लिये अपनाने योग्य है, उसे आगे बढ़ाना चाहिये। छोटे-बड़े का अन्तर हमें नहीं रखना चाहिये। बन्धुओ, समाज तो समाज है समाज का हर घटक समाज के लिये महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे

कोई मशीन होती है और उसमें प्रयोग होने वाले जहाँ बड़े-बड़े पुर्जे काम में आते हैं, वहीं छोटे से छोटा पेंच भी अपना स्थान रखता है। कई-कई बार तो ऐसा भी देखने में आता है कि एक छोटे से पेंच के अभाव में बड़ी-बड़ी मशीनें भी फेल हो जाती हैं।

छोटे पेंच ने डाला पेंच

दुर्ग के जयश्री आयल मिल के संचालक बाबूलाल जी जैन थे। उन्होंने विद्यासागर साल्वेंट के नाम से एक बहुत बड़ा साल्वेन्ट का प्लान्ट लगाया। प्लान्ट लगाया तो, पर चल नहीं पाया। सब जगह के टेक्नीसियंस को दिखला दिया गया। किसी की कुछ भी समझ में नहीं आया। पूरा का पूरा प्लांट दो महिने से बन्द था। बाद में वह आचार्य महाराज के पास आये दर्शन के लिये। आशीर्वाद लिया, लेकिन कुछ कहा नहीं। जाकर देखा तो पूरा प्लान्ट ज्यों का त्यों था। एक स्क्रू ढीला होने के कारण वह प्लान्ट बन्द था। छोटे पेंच और स्क्रू के अभाव में बड़ी से बड़ी मशीन भी बैठ सकती है। इसी समाज में छोटा से छोटा घटक भी अपने आपमें मूल्य रखता है। यदि एक छोटे से घटक की भी उपेक्षा की जाये तो उसका खामियाज़ा पूरे समाज को भुगतना पड़ सकता है।

सार्थक संपत्ति : संपत्ति की सार्थकता

इसलिये कोई कमजोर है तो उसे हम कमजोर न मानें अपितु यदि हम बलवान हैं तो अपने बल का संबल देकर कमजोर को भी मजबूत बनायें। हमारा धर्म यही सिखाता है। एक सक्षम आदमी दूसरे अक्षम आदमी को सक्षम बनाने का प्रण ले ले तो समाज का ढाँचा ही बदल जायेगा। लेकिन आज ऐसी प्रवृत्ति लोगों में कम देखने को मिलती है। बन्धुओ, यह हमारा मूलमार्ग है, इसे हमें आत्मसात् करके चलने की जरूरत है।

कुरलकाव्य में एक बहुत अच्छी बात लिखी है - ***यदि कोई व्यक्ति ऐश्वर्य सम्पन्न है तो उसे क्या करना चाहिये ? उन्होंने लिखा कि अपने नातेदारों को एकत्रित कर उन्हें ऊँचा उठाओ। यही ऐश्वर्य का सच्चा***

लाभ और उपभोग है । यदि शुभसंयोगों के परिणाम स्वरूप तुम्हें कुछ अच्छा मिला है तो तुम्हारे वैभव की सार्थकता इसी में है कि तुम उसका उपयोग उनके कल्याण के लिये करो, जिनके पास उनका अभाव है। यदि उनके लिये आप अपने द्रव्य का उपयोग शुरू कर देते हैं तो यह आपके जीवन की एक विशिष्ट उपलब्धि होगी। पैसा तो हर कोई कमाता है और चला जाता है। इस दुनिया में बहुत से धनपति हुये और उनके द्वारा बहुत ज्यादा धन भी जोड़ा गया लेकिन जोड़ा गया धन यहीं रह गया। यदि उस पैसे को कमा करके हम किसी को सहयोग देते हैं या किसी के जीवन के आधार बनते हैं तो वह पैसा व्यक्ति को पुण्य उत्पन्न करा कर जाता है, जो यश और कल्याण दोनों का प्रदाता होता है। ऐसी दृष्टि हमारी होनी चाहिये। वस्तुत: जो जड़ और चेतन के भेद को जानता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि चेतन के सत्कार में सदैव तत्पर रहता है। वह जड़ के पीछे चेतन की कभी उपेक्षा नहीं करता है। वह मानता है कि यह जड़ धन आज मेरे पास है तो केवल संयोग से। आज है, कल रहे न रहे, कोई भरोसा नहीं है। इसलिये इस जड़ धन का उपयोग इस चेतन के उत्थान के लिये करता हूँ तो यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। केवल इसी मूल भावना से प्रेरित होकर वह बाकी सब बातों को गौण करके चलता है।

बन्धुओ, समाज में हर प्रकार के लोग होते हैं। हम जब साधर्मी वात्सल्य की बात करते हैं तो उन लोगों को भी आगे बढ़ाने की कोशिश करना चाहिये, जो अभी निचली पायदान में खड़े हैं।

अन्दर-बाहर रखे उजाला : ऐसा होता सम्यग्दृष्टि

सन्त कहते हैं - तुम्हारे पास उजाला है और पर्याप्त उजाला है तो तुम्हारा प्रयास उस घर में उजाला करने का होना चाहिये जहाँ अँधेरा छाया हुआ है। तब तुम्हारे उजाले की सार्थकता है। हम उजाले में हों और अन्धेरे को न देखें यह बात ठीक नहीं है। अकसर ऐसा होता है कि अँधेरे में बैठे व्यक्ति को उजाले वाले देख नहीं पाते हैं। लेकिन अँधेरे वाले को उजाले में क्या पड़ा है, स्पष्ट दिख जाता है। सम्यग्दृष्टि के पास केवल बाहर का ही उजाला नहीं होता है, वह भीतर का उजाला

भी रखता है। सम्यक्त्व के प्रकाश में जहाँ कहीं भी अन्धकार उसे दिखता है वह वहाँ प्रकाश उत्पन्न करने के लिये तत्पर हो जाता है। पूरी निष्ठा से उन्हें सहयोग देकर के आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्न करता है।

प्रसंग : प्रेरणादायक

बन्धुओ, हमारी समाज में कई प्रकार के लोग हैं। यदि आप समाज की तस्वीर देखेंगे तो आपकी आत्मा रो उठेगी। ऐसे लोग भी समाज में होते हैं जो अपनी परिस्थितियों से पीड़ित होकर कैसे-कैसे तरीकों को अपनाकर अपना जीवन जीने को मजबूर होते हैं। यदि हमारे मन में उनके प्रति वात्सल्य है तो निश्चित ही उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का हम प्रयत्न करेंगे। पहले भी लोग ऐसा करते आये हैं और आज भी लोग ऐसा कर रहे हैं। बन्धुओ, समाज में बहुत सारे अभावग्रस्त लोग हैं। एक-दो प्रसंग सुनाकर मैं इस बात को आगे बढ़ाना चाह रहा हूँ। ऐसी-ऐसी स्थितियाँ जिनको मैंने अपनी आँखों से देखा है जो हमारे समाज के बीच हैं मैं आपके समक्ष रखता हूँ। अब यह समाज का दायित्व बनता है कि हम ऐसे लोगों के लिये क्या कर रहे हैं ? सन् 1991 की बात है। हम मध्यप्रदेश के गोटेगाँव में थे। वहाँ बहुत सारे चौके लगते थे। एक चौका सात दिन से खाली जा रहा था। आठवें दिन जब प्रात:काल मैं शौच के लिये जा रहा था तो मेरे साथ के युवकों ने कहा - महाराज श्री, यह चौका सात दिन से खाली जा रहा है। बड़ा गरीब आदमी है। गरीब है ? कौन है और क्या करता है ? - मैंने पूछ लिया। उन्होंने कहा - महाराज श्री वह पल्लेदारी करता है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक जैनी भाई पल्लेदारी का काम करता है। मैंने पूछा - शराब आदि का सेवन तो नहीं करता ? युवकों ने कहा - नहीं, महाराज वह है तो धर्मात्मा और साल में दो-चार सौ रूपये की कोई न कोई बोली भी ले लेता है। रोज पूजन-अभिषेक करता है। मेरे लिये इतना पर्याप्त था। मैं मन्दिर से अंजुलि लेकर सीधे उसके दरवाजे पहुँचा। भक्ति भाव से उसने पडगाहन किया। अन्दर ले गया। दो कमरे का छोटा सा मकान था। उसने बहुत सारी चीज़ें बनाई थी। पीछे पपीते का पेड़ लगा था। मैंने केवल पपीते

की सब्जी और दाल ली बाकी कुछ भी नहीं लिया। पूरे गोटेगाँव बस्ती के लोगों ने आकर आहार दिया। मैंने सबका आहार लिया लेकिन उस दिन नियम लिया कि बाहर का एक दाना भी नहीं लूँगा। केवल उसका ही आहार लिया। आपको क्या बताऊँ उस दिन की रोटी में जो मिठास मिली, ऐसी मिठास मुझे आज तक नहीं मिली। हमारा आहार पूर्ण हो गया।

आहार पूर्ण होने के बाद मैंने वहाँ की समाज के लोगों को बुलाया और कहा कि देखो तुम जो लाखों रूपयों का दान करने के लिये तत्पर रहने वाले लोग यहाँ हो, तुम्हारे ही बीच का कोई आदमी इस तरह की पल्लेदारी का काम करे, यह तो समाज के गौरव और गरिमा के अनुकूल नहीं है। इनके लिये कोई उपाय तुम लोगों को करना चाहिये। समाज के लोगों ने कहा - महाराज, हमने कई बार सोचा, लेकिन यह दो-सौ, ढाई सौ रूपये प्रतिदिन कमा लेता है। पढ़ा-लिखा है नहीं, यदि कोई दूसरा काम दिया जाये तो उसको उतनी आमदनी तो होगी नहीं। हम लोग नौकरी में भी रख लें तो इतना कौन देता है ? हमने कहा - कुछ तो होना चाहिये। वहाँ की गल्ला मण्डी पर जैनियों का बहुत अच्छा अधिकार है। उन्होंने उसको तुलावट के काम में नियुक्त कर दिया जिसमें प्रत्येक बोरे की तौल पर उसे एक निश्चित कमीशन मिलता था। उसकी स्थिति सुधर गई।

इसके बाद जब उन्नीस सौ छियानवे में मेरा दूसरी बार वहाँ जाना हुआ तो वह व्यक्ति मिला और बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला - महाराज, उस दिन के बाद से तो हमारे जीवन के दिन ही फिर गये। अब हमने वह तुलावटगिरी भी छोड़ दी है। गाँव से गल्ला खरीदकर लाते हैं और यहाँ बड़े-बड़े दुकानदारों को बेंच देते हैं। आज हमारा बहुत अच्छा काम चल रहा है और बहुत अच्छी आमदनी भी है। उसका बेटा कॉन्वेट में पढ़ने लगा था। यह चित्र है समाज का। समाज में ऐसे लोग भी हैं। ऐसे लोगों में से कोई एक-दो ही हमारे सामने आते हैं, यदि देखा जाये तो जाने कितने ऐसे लोग होंगे। हम सभी को विचार करना चाहिये, कि समाज के ऐसे अभावग्रस्त लोगों के प्रति हमारे मन में क्या है ? वात्सल्य केवल शाब्दिक नहीं होना

चाहिये। वात्सल्य केवल भाषणों तक सीमित नहीं होना चाहिये। वात्सल्य तो व्यवहार में उतरना चाहिये। धर्मात्मा वही है जो प्रत्येक धर्मात्मा का समादर करना जानता है और साधर्मी के जीवन को निरन्तर उन्नत करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम ऐसे लोगों का पता लगायें। उन्हें ढूढें और जहाँ आवश्यकता हो उसको आगे बढ़ायें। बन्धुओ, मैंने बहुतों को देखा है जिनके पास जीवन में इस तरह की बड़ी-बड़ी परेशानियाँ हैं, फिर भी लोग अपने जीवन का निर्वाह कर रहे हैं। आगे बढ़ रहे हैं। अगर उनको सहयोग देने की वृत्ति हम अपना लें तो हमारे बीच एक भी आदमी कमजोर नहीं होगा।

यह घटना भी सीख सिखाती

एक दूसरी घटना मैं आपको सुनाना चाहता हूँ। सन् 1997 की बात है, हम सागर में थे। एक लगभग पन्द्रह साल का लड़का और उसके साथ लगभग बारह साल की लड़की मेरे पास आयी। दोनों मेरे पास आकर बैठे और कहा - महाराजश्री, बड़ी विपदा आई है। सहयोग चाहिये। मैंने पूछा - आखिर ऐसी क्या विपदा है ? वे बोले - हमारी माँ के पैर का ऑपरेशन होना है। पूरा पैर कटना है, डॉ0 तीस हजार रूपये माँग रहा है। हमारे पास कोई व्यवस्था है नहीं और यदि ऑपरेशन नहीं हुआ तो माँ बचेगी नहीं। हमने पूछा - तुम कौन हो, कहाँ रहते हो और क्या करते हो ? उसने कहा - मेरे पिता जी एक होटल में हलवाई का काम करते थे। उससे पूछा - तुम क्या करते हो ? उसने कहा - हम वहीं पर कप धोते हैं। उसका पूरा हाथ जला हुआ था। उस लड़की से पूछा कि तुम क्या करती हो ? उसने कहा - बासन माजत हैं। मतलब कि बर्तन साफ करने का काम करती है। मुझे बहुत ज्यादा पीड़ा हुई। उस समय मेरे पास कुछ लोग बैठे हुये थे, उनमें से एक बहिन कालेज में प्रोफेसर थी। सैलरी लेकर आई थी। कुछ पैसे बैंक में जमा कर दिये थे। उस समय उसके पर्स में तीन हजार रूपये थे। हमने कहा इसका उपचार तो होना चाहिये। ब्र. अन्नू जी पास में बैठे थे। मध्यप्रदेश के एक बहुत बड़े अर्थोपेडियन सर्जन हैं मिस्टर सुभाष जकेरिया। बड़े सहृदय आदमी और गरीबों के लिये तो मसीहा हैं। वहाँ मैंने ब्र. जी से कहा - उनसे सम्पर्क करो। वहीं अजीत पाटनी हैं जो इस प्रकार के कार्य में,

समाज कल्याण के कार्य में निमग्न रहते हैं, उनके माध्यम से डॉक्टर साहब से सम्पर्क किया। उन्हें बताया - कि ऐसा-ऐसा केस है, भेज दें क्या ?

साधर्मी सहायता न्यास बने

डॉ0 जकेरिया ने कहा - आप तो अविलम्ब भेज दीजिये। उन दोनों बच्चों के साथ उनकी माँ को भाग्योदय तीर्थ के एम्बुलेंस के माध्यम से भेज दिया गया। जो कुछ पैसा वहाँ के लोगों ने दिया वह पैसा तो रहा उनके खाने -पीने की सम्पूर्ण व्यवस्था पाटनी जी ने स्वयं की। डॉ0 जकेरिया ने उनका एकदम बढ़िया नि:शुल्क ऑपरेशन कर दिया। बन्धुओ, यह तो संयोग था कि वह मेरे पास आ गये और यह स्थिति बन गई। ऐसे कितने लोग हैं, जो पास आ पाते हैं और आते भी हैं तो हम तक पहुँच कितने पाते हैं ? कितनों को उपचार मिल पाता है ? कर्त्तव्य तो समाज का होता है। समाज इस दिशा में आगे आये। इन सबको देख करके मुझे लगा कि अब समाज में हर जगह साधर्मी भाइयों के विकास के लिये एक न्यास स्थापित होना चाहिये जो साधर्मी को यदि कहीं से भी कोई कमजोरी है तो उसे मजबूती प्रदान करे। इस बात से प्रेरित होकर के मध्यप्रदेश में यह काम हुये हैं। अशोकनगर, गुना, ललितपुर, सागर और जबलपुर आदि में भी इस दिशा में कुछ काम हो रहा है। जहाँ एक न्यास की स्थापना हुई और लोग लाखों रूपया लोगों के सहयोग के लिये दे रहे हैं, जिससे कि लोगों का जीविकोपार्जन हो सके। चिकित्सा के लिये सहायता देते हैं। शादी-विवाह के लिये सहायता देते हैं। एक-दूसरे के लिये पूरक और प्रेरक बनकर लोग चल रहे हैं। यह भी हमारा बहुत बड़ा कर्त्तव्य है। कई लोग ऐसे होते हैं जिनकी माली हालत बहुत खराब होती है, लेकिन अपने मुख से कह नहीं पाते हैं, तो इसे देख करके बड़ी तकलीफ होती है। क्या करें ? हमारा साधर्मी वात्सल्य तो यही है कि यदि कोई व्यक्ति कहीं से भी इस तरह से परेशान दिखता है तो उसकी आवश्यकता की हम पूर्ति कर दें।

धर्म न टिकता धर्मी के बिन

पहले ऐसा समय था कि जब लोगों को मालूम पड़ जाता था या लोग अपने माध्यमों से पता लगा लेते थे कि किसके घर की मालीहालत खराब है, तो समाज में

ऐसे-ऐसे लोग भी थे जो चुपचाप उनके यहाँ अनाज और किराना आदि भेज देते थे और उनका काम हो जाया करता था। आजकल यह प्रवृत्ति क्षीण होती जा रही है, क्योंकि हमारी सोच संकुचित हो रही है। हमने इन बातों को दरकिनार करना शुरू कर दिया है। बन्धुओ, हम धर्म के मूल तत्त्व को समझें। हम बड़े-बड़े कार्यों में दान दे देते हैं, बोलियाँ ले लेते हैं और अन्य चीजों में भी पैसा खर्च कर देते हैं, इन सब चीज़ों का अपना महत्त्व है, पर यह मानकर चलना कि साधर्मी सहायता का महत्त्व भी कम नहीं है। हम अपनी सम्पन्नता के अभिमान में किसी विपन्न का तिरस्कार न करें। आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं -

स्मयेन योऽनत्येति धर्मस्थानगर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्बिना ॥ २६ ॥

यदि हम अपनी सम्पन्नता के अभिमान में डूबकर दूसरों का तिरस्कार करते हैं तो यह किसी और का तिरस्कार नहीं है बल्कि यह हमारे अपने धर्म का तिरस्कार है। क्योंकि **न धर्मो धार्मिकैर्बिना** धर्म धर्मात्मा के अभाव में नहीं रह सकता है। इसलिये धर्मात्माओं का संरक्षण प्रत्येक धर्मात्मा का कर्त्तव्य होता है। उसकी यह मूल भावना रहनी चाहिये और उसी से प्रेरित होकर एक-दूसरे को संरक्षण देने के लिये तत्पर होना चाहिये। वह निरन्तर जुटा रहता है कि किसी भी प्रकार से हम उनको संरक्षण दे सकें। खुद आगे बढ़ करके दूसरों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति उसके मन में सदैव जुटी रहती है।

गया की जैन समाज में यद्यपि कोई विपन्न नहीं है पर फिर भी यदि कोई छुपे अनजाने ऐसे दु:खी व्यक्ति हों तो आप उन्हें आगे बढ़ाने की कोशिश करें। यहाँ ही नहीं यदि आप कुछ ऐसी व्यवस्था बनायें कि जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती है तो हम उसकी पूर्ति करेंगे, तो बहुत कुछ काम हो जायेगा। आज समाज में किसी व्यक्ति को बाईपास सर्जरी कराने की नौबत आती हो और उस व्यक्ति की आमदनी दो-तीन हजार रूपये प्रतिमाह की हो तो डेढ लाख रूपये वह कहाँ से लायेगा सर्जरी के लिये।

ऐसा कुछ कर सकते हम भी

सतना में मैंने एक बार कह दिया कि यदि किसी को बाईपास सर्जरी की नौबत आ जाये तो हो सकता है कि उसका कफन आ जाये पर डेढ लाख रूपया न जुटे, हमारे पास ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं है। मेरा बस इतना कहना था कि सतना जैन समाज ने एक ऐसा ध्रौव्य फण्ड बनाने का निश्चय कर लिया था कि इससे हम इस तरह के किसी भी व्यक्ति की सहायता करेंगे। राष्ट्रीय युवा संघ सतना की जो इकाई है, वह इस क्षेत्र में बहुत ज्यादा काम कर रही है। अभी उन्होंने एक युवक के किड़नी ट्रॉसप्लान्टेशन के लिये एक लाख रूपये एकत्रित करके दे दिये।

बन्धुओ, ऐसे मौके के लिये हमें हमेशा मानसिक रूप से तैयार रहना चाहिये। कभी किसी के लिये आवश्यकता हो तो हम उसकी भरपाई करें। उसमें कोई संकोच न करें। अपने पास अलग से एक मद निकालकर रखें और जब कभी भी आवश्यकता हो तो उसकी पूर्ति करें। यह सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग की अभिव्यक्ति का एक आधार होगा और आपके इस व्यवहार से दूसरे भी प्रेरित होंगे तभी समाज में मजबूती आयेगी। हमें हर किसी को सहयोग देने की नीति अपनानी चाहिये। सहयोग दो और सहयोग लो यह प्रवृत्ति हमारी निरन्तर बनी रहनी चाहिये। हर अक्षम को सक्षम बनाने का हमारा प्रण होना चाहिये। और ऐसा प्रण होगा तो उसका परिणाम भी सुनिश्चित रूप से बहुत ही अच्छा होगा। वह आपके भले के लिये होगा, समाज के कल्याण के लिये भी होगा, इसलिये उसकी तरफ अपनी दृष्टि निरन्तर केन्द्रित होनी चाहिये।

संघे शक्तौ कलियुगे

दूसरी बात है समाज के संगठन की। समाज में संगठन भी बहुत ज्यादा जरूरी है। यदि समाज संगठित है तो सब कुछ संगठित है। कहते है - संगठन में शक्ति है। यदि समाज संगठित है तो हमारी शक्ति संगठित रहती है। कोई भी समाज तभी आगे बढ़ सकती है जब उसके अन्तर्गत रहने वाले लोगों के मध्य आपसी सम्बन्धों में प्रेम और एकता हो, संगठन हो। संगठन के अभाव में कोई भी समाज

खड़ी नहीं रह सकती है। जिस समाज में संगठन नहीं होता है उसकी शक्ति विखण्डित हो जाती है और वह अपना सिर ऊँचा नहीं उठा सकती है, इसलिये संत कहते हैं कि संगठन में सबसे ज्यादा शक्ति है। अँग्रेजी में एक कहावत है, जो आपने सुनी ही होगी - United we stand, Divided we fall.

बँधी मुट्ठी सवा लाख की

हम किसी को उँगली दिखाते हैं तो सामने वाला हो सकता है कि उस उँगली को तोड़कर के अलग कर दे, लेकिन यदि सब उँगलियाँ बाँध करके मुट्ठी के रूप में हों तो उस मुट्ठी से लोहा लेना सबके वश की बात नहीं होती है। संत कहते हैं - अपनी मुट्ठी बंद होनी चाहिये। हम उँगली की प्रवृत्ति को बन्द करें। मुट्ठी की प्रवृत्ति को अपनायें। समाज की मुट्ठी तभी बन्द रहेगी जब सभी उँगलियाँ एक साथ होंगी।

मैं जानता हूँ हाथ में पाँच अँगुलियाँ हैं, पांचों अँगुलियाँ समान नहीं हैं। पर हमारे लिये तो समान रूप से काम करती हैं। हम एक अँगुली से रोटी नहीं खा सकते हैं। रोटी तो तभी खायेंगे जब पाँचों अँगुलियाँ साथ देंगी। अलग-अलग रह करके भी हमारे बीच आन्तरिक सामंजस्य होना चाहिये यह तभी संभव होगा जब हम अपने क्षुद्र स्वार्थों को दरकिनार करके चलेंगे। जब व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिये समाज के व्यापक हित की उपेक्षा करना शुरू कर देता है तो वहीं समाज में विघटन की शुरूआत होनी प्रारम्भ हो जाती है। जो समाज के लिये अभिशाप बन जाती है।

जो बोता है बीज फूट के, प्रथम नष्ट वह ही होता

सन्त कहते हैं - ऐसा करने वाले व्यक्ति अपने साथ बहुत बड़ा धोखा कर रहे हैं। जो लोग समाज में फूट का बीज बोते हैं वे अपने आपको बर्बाद कर डालते हैं। बन्धुओ, बौद्धों के एक महान् ग्रन्थ महावक्र में एक बहुत अच्छी बात लिखी है, जो आज के सन्दर्भमें प्रेरक है। उसमें बुद्ध कहते हैं - **भिक्षुओ, तुम फूट डालने से बचना। और सब पापों को तो माफ किया जा सकता है, पर फूट डालने की वृत्ति को कभी भी माफ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि फूट एक संक्रामक रोग है। एक बार फैलता है तो फैलता ही जाता है। हर**

व्यक्ति के सुन्दर जीवन को असुन्दर बना देता है । इसलिये इस फूट की बीमारी से अपने आपको बचाने की हमारी निरन्तर कोशिश बनी रहनी चाहिये ।

जब जड़ में कीड़ा लग जाता है

एक गाँव में बहुत सुन्दर हरा-भरा वृक्ष था । उसकी शाखायें-प्रशाखायें सर्वत्र फैली हुई थी । पेड़ बहुत ज्यादा प्राकृतिक शोभा और सुषमा से मण्डित था । वह पेड़ पूरे के पूरे इलाके की शान बना हुआ था । अचानक ऐसा हुआ कि उसके पत्ते पीले पड़कर सूखने लगे और पेड़ जब सूखना शुरू हुआ तो सूखता ही चला गया । कल पूरे इलाके की शान बना वह पेड़ अब केवल ठूँठ के रूप में परिवर्तित हो गया । गाँव वालों को बड़ा कष्ट हुआ । तरह-तरह से खाद पानी दिया गया । लेकिन जब पेड़ सूखना शुरू हुआ तो सूखता ही चला गया । उसका कोई उपचार नहीं हो सका । सब तरफ से विचार करने के बाद जब पेड़ को सूखने से नहीं बचाया जा सका तो गाँव के लोग गाँव के ही एक अनुभवी बुजुर्ग के पास पहुँचे और उससे कहा - आखिर यह पेड़ क्यों सूख रहा है । हमने तमाम उपाय कर लिये पर यह पेड़ हरा-भरा नहीं हो पा रहा है । इस पेड़ को हरा-भरा बनाने के लिये कुछ उपाय बताइये -

हरा वृक्ष हो जाता ठूँठ

वे सभी लोग बुजुर्ग के साथ पेड़ के नजदीक पहुँचे और उन्होंने पेड़ का अवलोकन किया । अवलोकन करने के बाद बुजुर्ग ने कहा - अब यह पेड़ कभी भी हरा-भरा नहीं होगा । चाहे तुम इसको कितना भी खाद पानी दो । सबके सब लोग एकदम हतप्रभ रह गये कि आखिर यह हरा क्यों नहीं होगा ? तब उस बुजुर्ग आदमी ने कहा - इसकी जड़ में कीड़े पड़ गये हैं । जब तक उन कीड़ों को बाहर नहीं निकालोगे तब तक यह पेड़ हरा-भरा नहीं हो सकता है ।

बन्धुओ, सन्त कहते हैं - समाज का पेड़ भी तभी तक हरा-भरा रहता है जब तक उसकी जड़ सुरक्षित रहती है । जिस समाज की जड़ में फूट का कीड़ा पड़ जाता है वह समाज भी हरे-भरे पेड़ की तरह सूख जाता है । इसलिये उस फूट के कीड़े को तुरन्त निकालने की आवश्यकता है । वह फूट का कीड़ा समाज की हरियाली

और शोभा को नष्ट कर रहा है इसलिये उस कीड़े को अलग करने की आवश्यकता है । जैसे ही वह कीड़ा अलग हो जाता है तो पेड़ हरा-भरा हो जाता है ।

सामाजिक हित सर्वोपरि

बन्धुओ, ये सब बातें हमारे अपने दुराग्रह के कारण उत्पन्न होती हैं । हमारे मन में पलने वालीं महत्त्वाकांक्षायें जब आड़े आ जाती हैं तब आपस में खींचातानी मचना शुरू हो जाती है । उन बातों के पीछे हम खींचातानी कर लेते हैं जो एकदम अर्थहीन हैं । जिनका कोई महत्त्व नहीं होता है, उनके पीछे हम अपनी पूरी शक्ति को समाप्त कर देते हैं । बन्धुओ, यह हमारी बहुत बड़ी नादानी है । हम सोचें कि हम कितने आध्यात्मिक स्तर की बातें करते हैं ? हमारा धर्म क्या है ? हमारा दर्शन क्या है ? हम अपने धर्म और दर्शन का कितने अंशों में पालन कर रहे हैं ? कहाँ तो सबसे प्रेम से जीने की बात हम करते हैं और कहाँ हम ऊँचे-ऊँचे आदर्शों के विपरीत कार्य करते हैं ? कहाँ हम आत्मा और परमात्मा की निगूढ चर्चाएँ करते हैं और वहीं हम अपने क्षुद्र स्वार्थों के पीछे एकदम जघन्य स्तर का काम करना शुरू कर देते हैं । बन्धुओ, जिस मनुष्य के अन्तरंग में ऐसी नीच वृत्ति हावी होगी, वह व्यक्ति न तो अपना और न ही समाज का कल्याण कर सकता है । हमें अपने आपको व्यापक बनाना चाहिये ।

आचरण के शीर्ष पर श्रद्धा का राजमुकुट

हमेशा जो भी व्यक्ति समाज के कार्यों में आगे आते हैं, उन्हें अपने दिल-दिमाग में एक बात बैठा कर रख लेना चाहिये कि समाज के व्यापक हितों में हमारा वैयक्तिक रूप से अहित भी हो रहा हो तो उसे अपना हित मानकर चलें, क्योंकि व्यक्तिगत हित सामाजिक हित के आगे बहुत छोटा है । समाज महत्त्वपूर्ण है, व्यक्ति नहीं । समाज का भला होगा तो मेरा भला अपने आप हो जायेगा इसलिये जिस व्यक्ति के मन में ऐसी भावनायें होती हैं वही बहुत आगे बढ़ता है । बन्धुओ, समाज में समाजसेवकों की परम्परा शुरू से रही है । लेकिन आज समय बदला है । एक समय था जब समाज की बागडोर स्वाध्यायी धर्मात्माओं के हाथों में होती थी और

वे समाज की व्यवस्था को श्रद्धा के आयतन के रूप में स्वीकार करते थे। इस तरह के काम करते समय उनके मन में वैसी ही पवित्र भावनायें होती थीं, जैसी कि पूजा और सामायिक करते समय होती हैं। वे समाज-सेवा को सेवा मानकरके करते थे।

दूषित दरिया राजनीति का

आज समाज सेवा सेवा का आधार न होकर सत्ता का अधिष्ठान बनती जा रही है। समाज सेवा जब सत्ता का अधिष्ठान बन जाती है तब वहाँ हर प्रकार की राजनीति प्रविष्ट होना शुरू हो जाती है। जब मनुष्य की वृत्ति राजनीति से प्रेरित हो जाती है तो वहाँ अनेक प्रकार की गंदगियाँ जन्म लेना शुरू हो जाती हैं, क्योंकि राजनीति एक ऐसी क्षुद्र वृत्ति है कि जहाँ लड़ना और लड़ाना हो उसका नाम ही राजनीति है। **राजनीति प्रेम का पाठ पढ़ा ही नहीं सकती है।** अब तो धर्म में भी राजनीति आने लगी है। हम धर्म का भी काम करते हैं तो हमने उसे राजनीति के हिसाब से करना शुरू कर दिया है। पर याद रखना नतीज़ा बहुत बुरा होता है। एक बार एक पत्रकार ने मुझसे पूछा - महाराजश्री, धर्म में राजनीति का प्रवेश हो रहा है आप इसके विषय में क्या कहना चाहेंगे ? हमने कहा - **राजनीति में धर्म हो यह बात तो समझ में आती है, पर धर्म में राजनीति होना ठीक नहीं है। दोनों में बड़ा अन्तर है।**

जब राजनीति में धर्म आता है तो रामायण बनती है, और जब धर्म में राजनीति आती है तो महाभारत मचता है। बन्धुओ, महाभारत के परिणाम हम सबने देखे हैं, बहुत घातक हैं। ऐसे महाभारत से बचिये और बचाइये। उस राजनीति से अपने आपको मुक्त करने का प्रण लीजिये। देखिये जीवन में कितना अधिक रस और आनन्द आता है।

सिर पर चढ़ने वाला गिरता

हम सोचते हैं कि दूसरे के सिर पर बैठने से हमारे अन्दर कुछ उपलब्धि होगी, पर ध्यान रखना, किसी के सिर पर बैठने से तुम्हें कोई उपलब्धि नहीं होगी। हो सकता है कि वह तुम्हें कभी भी नीचे पटक दे। **कभी भी किसी के सिर पर**

बैठने की कोशिश मत करो, बल्कि ऐसा काम करो कि सामने वाला तुम्हें अपने सिर पर बैठाने को लालायित हो उठे। देखो फिर तुम्हारे जीवन में क्या रस आता है। बन्धुओ, दूसरे तुम्हें सिर पर तभी बैठायेंगे जब तुम्हारा आचरण वैसा होगा। मनुष्य का आचरण जब पवित्र होता है तो सारी दुनिया उसकी कायल बन जाती है और जब मनुष्य के आचरण में स्वार्थपरता और क्षुद्रता की बू आने लगती है तो उसका सगा भाई भी उससे दूर हो जाता है।

कैंची में किचकिच, सुई में शान्ति

रावण दुरभिमानी था, इसलिये विभीषण उसके घर से दूर चला गया और राम के दरबार में आ गया। राम के अन्दर कर्तव्य निष्ठा थी इसलिये विभीषण जैसे शत्रु का भाई भी उनकी सेवा में तत्पर हो गया। बन्धुओ, यदि हमारे अन्तस् में उदारता हो तो शत्रु भी मित्र हो सकता है और यदि हमारा हृदय भी संकीर्ण हो तो हमारा सगा भाई भी दुश्मन बन सकता है। इसीलिये यदि हम किसी को भी परिवर्तित करना चाहते हैं तो खुद को परिवर्तित करके देखने की कोशिश करें तब कुछ काम बन सकता है। आपस में लड़ने-भिड़ने से कोई काम नहीं बन सकता है।

सन्त कहते हैं - बनाने की सोचिये, मिटाने की नहीं। बसाने की सोचिये, उजाड़ने की नहीं और यदि समाज का नया नक्शा बनाना है तो जोड़ने की सोचिये, तोड़ने की नहीं। हम एक-दूसरे से जुड़कर चलने की कोशिश करें। कैंची और सुई दोनों का अलग-अलग काम होता है। कैंची क्या काम करती है ? उसका काम है काटना। और सुई का काम होता है सिलना। इसलिये वह सीधे-सीधे नहीं चलती है। क्योंकि सीने का काम बहुत घुमावदार होता है, इसलिये सुई बनकर काम करें, कैंची बनकर नहीं। आप एक-दूसरे के प्रेरक बनकर चलने का मन में संकल्प ले लेते हैं तो सारा काम हो सकता है।

ये दिल ऐसी बस्ती है जो बसते-बसते बसती है

बन्धुओ, तोड़ना बहुत सरल है और जोड़ना बहुत कठिन है। **एक-एक ईंट जोड़कर मकान बनाने में वर्षों लग जाते हैं और तोड़ने के लिए**

बुल्डोजर का एक धक्का ही पर्याप्त है। ध्यान रखना ऐसी समरसता समाज में वर्षों में बनती है और वैमनस्य किसी एक व्यक्ति के स्वार्थ के आड़े आते ही। उसके अहं का जो टकराव आता है, वही सारा काम चन्द मिनटों में तमाम कर देता है, इसलिये कभी भी हम तोड़ने की बात न करें। जहाँ तक हो सके हम जोड़ने की कोशिश करें। हम इस बात को हमेशा अपने दिल-दिमाग में बैठाकर चलें कि मेरी किसी प्रवृत्ति से समाज का कोई अहित न हो। यदि आज हम कोई विष बीज बोकर चले गये तो उसका फल हमारी आने वाली पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा और जब तक हम ऐसे कुकृत्य करते रहेंगे तब तक समाज में, परिवार में कटुता की विषबेल फलती-फूलती रहेगी। यदि समाज में स्वस्थ परम्परा को जन्म देना चाहते हो तो विषबीजों के वपन से बचो। स्वार्थ रूपी जो विषबीज हैं, उनसे अपने आपको मुक्त करने की कोशिश कीजिये। आपसी वैमनस्य यदि किसी कारण वश कहीं से उत्पन्न होता भी है तो उसे दूर करने का जितनी जल्दी हो उतनी जल्दी प्रयास करें।

सिंह बनिये, श्वान नहीं

जो आपस में लड़ते हैं, वे आफत में पड़ते हैं। यह हमें ध्यान रखना चाहिये। **आग लगाने वाले के घर में बाग नहीं खिल सकते हैं।** यदि हम अपने घर में खुशहाली चाहते हैं तो बाग लगाओ, आग नहीं। हम देखें कि हम कर क्या रहे हैं? आग लगाने का काम कर रहे हैं या बाग खिलाने का काम कर रहे हैं? अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने एक बहुत अच्छी कहानी लिखी है। एक छोटा-सा बच्चा अपनी माँ से कहता है कि - लोग अपना नाम शेरसिंह, मृगराज, मृगेन्द्रसिंह आदि रखते हैं। गजराज रखते हैं। अनेक पशु-पक्षियों के नाम से अपना नाम रखते हैं। पर अपना नाम कोई कुत्ताचन्द क्यों नहीं रखता है? माँ मेरा नाम शेरसिंह है और यह नाम मुझे बिल्कुल नहीं सुहाता है कल मैं सर्कस देखने गया तो देखा कि शेर तो माँसाहारी है और उसके शरीर से बदबू आती है। उससे अच्छा तो अपना यह कुत्ता है। देखो तो कितना स्वामिभक्त और वफादार है इसलिये एक काम करो, मेरा नाम शेरसिंह की जगह श्वानसिंह रख दो। माँ ने बेटे को समझाया और कहा - बेटा यह सच है कि शेर के शरीर से बदबू आती है और यह भी कि कुत्ता शेर से ज्यादा

वफादार है। लेकिन कुत्ते में एक बड़ा दुर्गुण है, इसलिये कोई कुत्ता कहलाना पसन्द नहीं करता है। बेटे ने पूछा - माँ कुत्ते में ऐसा कौन सा दुर्गुण है? माँ बोली - **कुत्ता सब काम तो ठीक करता है परन्तु अपनी ही बिरादरी से लड़ता है।** एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर के भौंक उठता है। ध्यान रखना, **दुनिया में वह कभी भी आदर को नहीं पा सकता है, जो अपनी बिरादरी से लड़ता है,** क्योंकि यह तो कुत्ते की जात है, आदमी की नहीं। हम क्यों लड़ें?

अपनों से लड़कर क्या होगा?

एक कुत्ते को मथुरा से दिल्ली जाना था, वह ठीक छह घण्टे में पहुँच गया। उसके एक साथी कुत्ते ने पूछा - भाई तुम इतने जल्दी कैसे आ गये? वह बोला - अपने भाइयों की बदौलत। क्योंकि जहाँ भी गया वहाँ के कुत्तों ने मुझे खदेड़ा। एक-दूसरे को खदेड़ना और एक-दूसरे को नीचा दिखाना यह बहुत नीच वृत्ति है। अपनों से क्या लड़ना? पर हमें तो लगता है कि लोग अपने शौर्य का परिचय अपनों के आगे बॉह चढ़ाने में ही देते हैं। बाहर जाने के बाद भीगी बिल्ली की तरह हो जाते हैं। तुम्हारा शौर्य और पराक्रम वहाँ लगना चाहिये जहाँ समाज के हितों में कोई बाधक बनता है। जिससे समाज में विकृत परम्परायें जन्म लेती हैं, तथा समाज का अहित होता है। उससे लड़ो तो बात अलग है, अपनों से लड़कर क्या होगा? फिर साधर्मी तो साधर्मी हैं, सब भाई-भाई हैं। भाई से लड़कर के क्या होगा? जीत भी गये तो कुछ नहीं मिलना और हार गये तो भी कुछ नहीं मिलना है। लड़ाई तो लड़ाई है, लड़ाई में कभी अच्छाई नहीं मिलती है। इसलिये इस प्रकार की प्रवृत्तियों से अपने आपको बचाने की ज़रूरत है।

अभिमानी की अकड़, अकड़ का अभिमान

अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को कम करें। यदि हमने अपने थोथे घमण्ड को कम कर दिया तो सारा काम हो जायेगा। कई बार समाज में हम देखते हैं कि छोटी-छोटी बातें बहुत बड़ा रूप ले लेती हैं। आदमी का जो अहं होता है वह उसको लड़वाता है। कभी-कभी तो स्थिति बहुत हास्यास्पद हो जाती है। एकदम घटिया

सी बात इतना बड़ा रूप ले लेती है कि पूरा का पूरा समाज विद्रूपित हो जाता है और बड़ी विचित्र स्थिति बनती है। एक बार ऐसा हुआ कि एक जगह एक धार्मिक आयोजन हुआ और उस आयोजन में सभी लोग शामिल हुये। अब जो आयोजक गण थे वे सहज भाव से सारा काम कर रहे थे। वहीं समाज में एक बहुत बड़ा अभिमानी व्यक्ति भी था जो अपने आपको बहुत बड़ा आदमी मानता था। सबको निमंत्रित किया जा रहा था। संयोग से उनका नाम नहीं लिया जा सका। संयोजक को ध्यान नहीं रहा कि हम उनका नाम लें। बाद में काफी देर बाद किसी ने संयोजक को ध्यान दिलाया कि अमुक व्यक्ति भी बैठा है उनको भी बुला लिया जाये। उनको बुलाया गया तो उन्होंने अपना अपमान समझ लिया और सोचा कि इसकी इतनी औकात हो गयी कि इसने हमारा नाम नहीं लिया। यह मुझे अपमानित करना चाहता है। मैं अभी इसको मज़ा चखाता हूँ। मन में गाँठ बाँध ली। इसने मुझे पहले क्यों नहीं बुलाया और दूसरों के कहने पर बुलाया है। यह मुझे नीचा दिखाने का एक प्रयत्न है। अन्दर आग लग गई। सामने वाले के मन में कोई दुराशय नहीं था केवल दृष्टि न पड़ने के कारण उसका नाम नहीं पुकारा जा सका। लेकिन इसके अन्तस् में तो आग लग गई थी। अब मैं तुम्हें नीचा दिखा करके ही रहूँगा। और उसने तय कर लिया कि अब की बार चुनाव में इसको कहीं से भी आगे नहीं आने देना है और जिस समाज में कभी कहीं कोई वोटिंग नहीं हुई, उस व्यक्ति के कारण वहाँ पर मतदान कराना पड़ा। हालाँकि उसने मुँह की खाई, क्योंकि अभिमान का अन्त हमेशा बुरा होता है। कई लोग हैं जो अहं में अकड़कर आसमान में चढ़ना चाहते हैं, लेकिन जो अहं में चढ़कर आसमान में चढ़ने का सपना देखता है वह आसमान में तो नहीं चढ़ सका, अपितु उसको जमीन में दबना जरूर पड़ा है।

सामाजिक पद : स्वार्थ नहीं ज़िम्मेदारी

आसमान में चढ़ने का सपना देखने वाले को ज़मींदोज़ होना पड़ता है। इसलिये ऐसा सपना कभी मत देखो। रावण जैसे अभिमानी की लंका का नाश हो गया और आज उसका नाम लेने वाला भी कोई नहीं है। जिसके यहाँ एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे। उसके यहाँ आज दीपक जलाने वाला भी कोई नहीं है।

इसलिये इन सब बातों का ध्यान में रख करके चलना चाहिये। छोटी-मोटी बातों को जब हम बड़ा रूप देना शुरू कर देते हैं तो बहुत सारी गड़बड़ियाँ शुरू हो जाती हैं। चुनाव में मिलेगा कुछ नहीं और ध्यान रखना कदाचित् आप कुछ आगे आ भी गये तो कोई स्वर्ग का मुकुट तुम्हारे ऊपर थोड़ी ही न रखा जा रहा है। यह तो काँटों का ताज है, इसे केवल एक दायित्व और एक ज़िम्मेदारी के साथ स्वीकार करना चाहिये। बाकी इन बातों को अपने स्वार्थ का आधार कतई नहीं बनाना चाहिये। हम इन चीजों से यदि उपरत होकर के चलते हैं। तो वह हमारे जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि बनती है। और यदि इन बातों को हम पकड़कर चलते हैं तो वह हमारे विनाश का कारण बनती है, इसलिये इन सब बातों को दूर करो/इन सब बातों से दूर रहो।

दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा, शकुनि की चालें

जो अपनी दूषित महत्त्वाकांक्षायें हैं उनको दूर करो। दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा के कारण महाभारत हुआ और उस महत्त्वाकांक्षा का परिणाम सबने भोगा। बन्धुओ, क्या करें ? आज समाज में भी ऐसे अनेक लोग हैं जो आज अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये समाज के सुख-चैन को लील जाना चाहते हैं। और क्यों न हो आज समाज में दुर्योधन और शकुनियों का बाहुल्य हो रहा है और समाज के बुजुर्ग धृतराष्ट्र बने बैठे हैं। जब तक ऐसी स्थिति रहेगी तब तक समाज में खुशहाली लौट नहीं सकती है। आवश्यकता है हमें एक सही शुरूआत करने की जिससे समाज में स्वस्थ परम्परा की शुरूआत हो, जिससे समाज में शान्ति और सद्भाव का वातावरण निर्मित हो और लोग एक-दूसरे के साथ हिलमिलकर चलने को तैयार हों फिर देखिये समाज में क्या आनन्द रस आता है।

बन्धुओ, गया की जैन समाज सम्पूर्ण विहार के लिये आदर्श जैन समाज रही है। गया ने सारे इलाके को प्रेरणा दी है। गया में यदि कुछ होता है तो सब जगह संदेश जाता था। आज स्थिति कुछ बदल रही है , लेकिन आज फिर से गया के गौरव को लौटाने की आवश्यकता है। गया समाज का वह पुराना गौरव फिर से लौट

सकता है। यह तब होगा जब आप सबके मन में सद्भावनायें होंगी और क्षुद्रता को मन में दूर करोगे अन्यथा आपस में लड़-भिड़कर बर्बाद हो जाओगे। जब तक हमारे मन में इस तरह की वृत्ति रहेगी तब तक हम अपने जीवन का उत्थान नहीं कर सकते हैं।

अहं की दीवारोंने घेर रखी निश्छलता

निश्छलता को अपनाइये। शुद्ध मन से किये गये कार्यों के परिणाम निश्चित ही अच्छे आयेंगे और यदि हमारा मन खराब होगा तो उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं आ सकता है। इसलिये अच्छे मन से सारे काम करने की शुरूआत कीजिये। जहाँ हमारा अभिमान आड़े आयेगा वहाँ हमारी प्रगति रुक जायेगी। अपनी प्रगति को आगे बढ़ाना है तो इन सब बातों को दरकिनार करो।

एक बार कुयें ने समुद्र से कहा - तुम नदी-नाले सबको अपने आपमें समा लेते हो, मुझे क्यों नहीं समाते हो ? कुयें की प्रार्थना पर समुद्र मुस्कुराया और कहा - क्या करें, मैं तो तुम्हें भी अपनाना चाहता हूँ, पर तुमने चारों ओर दीवारें खड़ी कर रखी हैं, तुम्हें कैसे अपनाऊँ? यह दीवारें आड़े आ रही हैं। ध्यान रखना, जो व्यक्ति अपने चारों ओर अहं की दीवारें रखता है वह परमात्मा के सागर में कभी मिल ही नहीं सकता है। यदि परमात्मा से मिलना चाहते हो तो इन दीवारों को मिटाने की कोशिश करो। अहं की दीवार को गिराकर श्रद्धा के द्वार में प्रवेश करो। देखो तुम्हारे जीवन में क्या आनन्द आता है। यदि हम ऐसा करते हैं तो जीवन में एक बहुत बड़ी उपलब्धि घटित होती है और यदि ऐसा करने में हम समर्थ नहीं होते हैं तो हमारे जीवन में बहुत बड़ा बाधक तत्त्व जन्म ले लेगा।

लक्ष्य निर्वाण का, तैयारी निर्माण की

इसलिये बन्धुओ, एक-दूसरे के पूरक होकर चलने की कोशिश करिये। कहीं ऐसा न हो कि हमारी शक्ति विध्वंसकारी कार्यों में लगे। सम्यग्दृष्टि हमेशा सृजनात्मक सोच लेकर चलता है। वह हमेशा निर्वाण की बात सोचता है और निर्माण के कार्य करता है। हम उस विध्वंस को दूर करने की कोशिश करें ताकि

समाज में सृजनात्मकता आ सके और कुछ नया बनाने की गुंजायश हो सके तो निश्चित ही वह हमारे जीवन के लिये बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और ऐसी कोशिशों से हम दूर रहे तो हमारे जीवन में कुछ भी घटित नहीं होगा। इसलिये आज मैंने जो सामाजिक एकता की बात कही है वह हर हालत में होनी चाहिये। आचार्य श्री ने मूकमाटी में कहा - **एकता जगी, एक ताज़गी।** जहाँ एकता जगती है वहाँ ताज़गी आती है। आप ताज़गी लाना चाहते हो तो एकता को जगाइये, सारा काम अपने आप हो जायेगा। जब हम एक होंगे तो हमारे द्वारा किये गये कार्यों का परिणाम भी कुछ और होगा। और यदि हम आपस में बँटे रहेंगे तो कुछ भी परिणाम नहीं होगा। हमें आज एक होने की जरूरत है। **हम एक बनें और नेक बनें।**

सामूहिक प्रयास ने दिलाई आजादी

हमने एकता के परिणाम को देखा है। हमने कबूतर और चूहे की कहानी सुनी है। चित्रगुप्त कबूतर बहेलिया के जाल में फँस गया। अनन्त आसमान में उड़ने वाले सारे के सारे कबूतर अपनी चूकवश बहेलिया के जाल में फँस गये। अब बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं दिखता था। क्या किया जाये ? अनुभवी कबूतर ने कहा - कि चूक वश हम फँस जरूर गये हैं, पर चिन्ता मत करो। अमुक जगह पर वह हिरण्यकश्यप नाम का चूहा रहता है वहाँ तक कैसे भी पहुँच जाओ तो वह हमारे सारे जालों को काट डालेगा और एक बार जाल कट जाये तो हम आजाद हो जायेंगे। पर इतने बड़े जाल में आबद्ध होकर हम आसमान में उड़ें कैसे ? हमारे पास इतनी ताकत है कहाँ ? तब वह चित्रगुप्त कहता है - घबड़ाओ नहीं, हम अकेले भले ही इस जाल के साथ नहीं उड़ सकते हैं। पर सब लोग प्रयास करेंगे तो पूरे जाल के साथ आसमान में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेंगे। यदि सामूहिक प्रयास होगा तो निश्चित रूप से आसमान में उड़ सकेंगे। उसके परामर्श को सुनकर सब लोगों ने एक साथ ताकत लगाई और जाल में बँधे होने के बावजूद वे आसमान में उड़ गये। चूहे के पास पहुँचे। चूहा अपने बिल से बाहर निकला और उसने अपने मित्रों की आपत्ति को दूर किया। बन्धुओ, मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ। कि कैसा भी जाल हो यदि तुममें एक जुटता हो तो तुम्हारे अन्दर अनन्त आसमान में उड़ने की

सामर्थ्य है और यदि एक जुटता का अभाव है तो इस जाल में यूं ही उलझकर रह जाओगे, इसलिये उस जाल को भेदने की कोशिश करो। फिर देखिये जीवन में कितना अधिक आनन्द आता है।

मतों की भिन्नता, पर मनों की एक रूपता

बन्धुओ, मैं तो एक ही बात कहता हूँ कि हम सबके बीच एकता बनी रहनी चाहिये। **मतभेद हों पर मनभेद नहीं होना चाहिये।** समाज है, समाज में सभी एक सी विचार धारा के नहीं रहते हैं। अनेक प्रकार की विचारधारायें समाज के बीच रहती हैं। मतभेद होने के बाद भी एक सामंजस्य जरूर होना चाहिये। कहते हैं - वीणा में सात तार होते हैं और सातों तार अलग-अलग होते हैं, लेकिन जब कभी उन तारों पर अंगुलियों का स्पन्दन किया जाता है तो समवेत स्वर छोड़ते हैं। जब सातों तार एक साथ मिलकर ध्वनि छोड़ते हैं तो संगीत का जन्म होता है। पर यदि सातों तार अलग-अलग आलाप अलापते हैं तो सिरदर्द पैदा हो जाता है। बन्धुओ, सातों तारों के ऊपर समवेत स्वर हो, संगीत की स्वर लहरियाँ उत्पन्न हों, जिससे सबका चित्त प्रफुल्लित हो। सबके मन में आनन्द बरसे, ऐसा काम होना चाहिये। बन्धुओ, मै तो आपसे यही कहना चाहता हूं कि संगठन की वीणा बजने दो। आपके सितार के सभी तार अत्यन्त दुरुस्त होने चाहिए। अलग-अलग होकर के भी आन्तरिक संयोजन ऐसा होना चाहिये कि उससे निकलने वाला संगीत हर व्यक्ति को आनन्दित कर सके। यदि ऐसा आप करते हैं तो निश्चित रूप से वह आपके जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और यदि आप ऐसा नहीं कर पाते हैं तो वह जीवन के लिये बहुत ही घातक तत्त्व होगा।

दाना खाक में मिलकर गुले गुलज़ार होता है

हमने अभिमान को हमेशा महत्त्व दिया है उसे गौण करके चलें। क्षुद्र अहं की पूर्ति के लिये कभी प्रयास न करें, जो हमारे लिये व दूसरों के लिए उत्सर्ग रूप हो। ध्यान रखना जो दूसरों के लिये उत्सर्ग करता है वही सारा काम करता है। दो भाईयों में बहुत ज्यादा विवाद मचा हुआ था, हिस्सेदारी को लेकर। मेरे पास बात आई। मैंने

कहा - जो राम होता है उसे वनवास जाना ही पड़ता है। थोड़ा बहुत त्याग दोगे तो क्या फर्क पड़ेगा ? आज राम को वनवास मिला है लेकिन उसका परिणाम यह निकला कि वह भले ही अयोध्या के राजा न बने, जन-जन के/घट-घट के राजा जरूर बन गये। इसलिये कदाचित् तुम्हें अपने किसी स्वार्थ को त्यागना भी पड़े तो उसे अपना बलिदान मानकर के चलें।

यदि तेरी बरबादियाँ आबाद करती हों किसी को तो।
तकाज़ा है शराफ़त का कि तू बरबाद हो जाना।

जिससे शान्ति और सद्भाव उत्पन्न होगा और वह तुम्हारे जीवन की चिरस्थायी उपलब्धि के रूप में परिणत हो जायेगा। यदि आप उसमें खींचातानी करोगे तो खींचातानी का तो मतलब ही अच्छा नहीं निकलता है।

सहज मिले सो दूध सम माँगे मिले सो पानी।
उसको जानो जहर सम, जिसमें खींचातानी॥

खींचातानी से अपने आपको बचाओ। हमारा धर्म हमें यही बताता है। हम सहिष्णुता और उदारता को अपने अन्तरंग में विकसित करते हैं तो सारे काम सहज रूप से सम्पादित हो जाते हैं। ऐसा प्रयास हम सबको करना चाहिये। बन्धुओ, आज जो बातें हमने की हैं, वे सब साधर्मी वात्सल्य के नाम पर, सामाजिक एकता के नाम पर की हैं, और यह संदेश सिर्फ गया की जैन समाज के नाम पर नहीं है। यह सम्पूर्ण देशभर के लोगों के लिये संदेश है।

गया १८-०३-०७

मार्गानुसरण ही मार्गप्रभावना

कभी न डूबे सूर्य सत्य का

सम्यग्दृष्टि सत्य का उपासक होता है। सत्य का अन्वेषण करता है और वह चाहता है कि जिस प्रकार सत्य का प्रकाश मेरे हृदय में हुआ है। वैसे ही सत्य का प्रकाश सारे लोक में फैले। वह सदैव सत्य का अभिनन्दन करता है और सत्य की पूजा और प्रतिष्ठा चाहता है। उसके मन में केवल एक ही भावना और एक ही कामना होती है, कि सर्वत्र केवल सत्य का शासन हो। असत्य कहीं रहे ही नहीं। सर्वत्र केवल प्रकाश हो, अन्धकार कहीं बचे ही नहीं। उसकी इसी उत्कृष्ट भावना का नाम है **प्रभावना।** वह भगवान से प्रार्थना करता है कि प्रभु, जिस सत्य को मैंने जाना है उस सत्य को जन-जन जाने। आज तक मैं अपने भीतर के अज्ञान अन्धकार से अभिशप्त होकर संसार में भटकता रहा हूँ। सद्गुरुओं की कृपा से मुझे अपने स्वरूप का बोध हुआ है। मेरे भीतर का प्रकाश प्रकट हुआ है, प्रभु यह प्रकाश जो मेरे भीतर प्रकट हुआ है, सब तरफ फैले। संसार का एक भी प्राणी ऐसा न हो जिसके ऊपर मिथ्यात्व का तमस हो। सबके हृदय में सम्यक्त्व की ज्योति किरण जल उठे। मिथ्यात्व का साम्राज्य कहीं रहे ही नहीं।

घटाटोप छाये अंधियारे में, एक किरण की कितनी कीमत ?

वस्तुतः जो प्रकाश का पुजारी होता है वह अन्धकार के साम्राज्य को हमेशा के लिये उखाड़ फेंकना चाहता है। वह चाहता है कि जब प्रकाश है तो केवल प्रकाश ही रहे अब अन्धकार का नामोनिशान ही न रहे। वह उसकी सत्ता को उखाड़ फेंकने की कोशिश में रहता है और इसी भावना का नाम है प्रभावना।

बन्धुओ, प्रकाश का महत्त्व केवल वही जानते हैं जिन्हें अंधेरे से जूझना पड़ा है। जो कभी किसी परिस्थिति वश अन्धकार का सामना करने को मजबूर हुये

हों, उन्हें समझ में आता है कि प्रकाश की एक नन्हीं किरण का मतलब क्या होता है ? और जब उसे उस किरण का सद्भाव मिलता है तो वह एक पल के लिये भी उसे छोड़ना नहीं चाहता है। उसका पूर्ण मन से अभिनन्दन करता है। अपने अपूर्व यत्न से उसकी सुरक्षा करता है और चाहता है कि यह किरण अब हमेशा-हमेशा के लिये फैले। यह किरण सर्वत्र फैले, सर्वव्यापी हो। अन्धकार हमेशा के लिये निःशेष हो जाये।

प्रभावना : जिनशासन की महिमा फैले

जैसे कोई व्यक्ति समुद्र में डूबता हो तो उसके लिये एक तिनका भी बहुत बड़ा सहारा होता है इसी प्रकार घोर मिथ्यात्व के अंधेरे से भरे उस व्यक्ति के लिये यदि कहीं सम्यक्त्व की छोटी-सी भी किरण दिखती है तो वह उसके जीवन का आशादीप बन जाती है और उसके आलोक में वह स्वयं के जीवन को ज्योतिर्मय करता है, साथ ही सबको ज्योतिर्मय बनाने की पवित्र कामना और कल्पना करता है। इसी उदात्त कामना का नाम है प्रभावना अंग। जिसे आचार्य समन्तभद्र महाराज अपनी शब्दावली में कहते हैं -

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥

अज्ञान रूपी अन्धकार के विस्तार को यथासंभव येन-केन प्रकारेण जैसे बने वैसे दूर करके जिनशासन के महत्त्व को प्रकाशित करने का नाम प्रभावना है।

अंधेरा टिक नहीं सकता, कभी सूरज के अखाड़े में

वस्तुतः भावना की उत्कृष्टता का नाम ही प्रभावना है। जिसे हम अपने निर्मल चरित्र और पवित्र अनुष्ठानों के माध्यम से प्रकट कर सकते हैं। हम जिनशासन की महिमा को फैलाना चाहते हैं। प्रत्येक धर्मात्मा का यह भाव रहता है। वही उसका ध्येय रहता है। यह महिमा सर्वत्र फैले। पर यह महिमा फैले कैसे ? प्रभावना करना तो सबकी ज़रूरत है। ध्यान रखना, प्रभावना की नहीं जाती है, प्रभावना

होती है। यदि कहीं दिया जलता है तो उससे अंधेरे को भगाना नहीं पड़ता है। जहाँ दिया जला होता है अंधेरा वहाँ से अपने आप चला जाता है। दिये को कभी अंधेरे को भगाना नहीं पड़ता है। कहना नहीं होता कि अंधेरे तुम जाओ। दिया का जल जाना मात्र पर्याप्त है। यदि दिया होगा तो अंधेरा टिकेगा नहीं, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार दोनों एक साथ टिकते नहीं हैं। धर्म और अधर्म एक साथ रहते नहीं हैं। जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अंधेरा अपने आप दूर हो जायेगा।

सूरज खोज रहा अंधियारा

एक बार अंधेरे ने आकर के परमात्मा से शिकायत की और कहा - प्रभु, तुम्हारा सूरज मुझे बहुत परेशान करता है। सुबह से मेरे पीछे पड़ा रहता है। शाम तक जैसे-तैसे मैं उससे पिण्ड छुड़ा पाता हूँ। पूरी रात अपनी थकान तक नहीं मिटा पाता हूँ कि फिर सुबह वह आ धमकता है। आखिर पूछो कि हमने उसका बिगाड़ा क्या है ? परमात्मा ने कहा - ठहरो, अभी सूरज को बुलाता हूँ और पूछता हूँ कि मामला क्या है ? सूरज को बुलाया गया और पूछा - क्यों भाई, तुम इस अंधेरे को क्यों तंग करते हो ? सूरज ने कहा - अंधेरा, कौन-सा अंधेरा ? मैंने तो आज तक उसे देखा ही नहीं। प्रभु आप बुला लो, मैं अभी उससे क्षमा माँग लेता हूँ। कहते हैं सूरज आज भी अंधेरे से क्षमा माँगने के लिये तैयार है पर अंधेरा उसका सामना ही नहीं कर पाता है। जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार हो ही नहीं सकता है। वह प्रकाश अपने भीतर प्रकट हो।

क्या खुशबू कहती, तुम सूँघो मुझे ?

सम्यग्दृष्टि प्रकाश का पुंज बनता है, इसी कारण वह जहाँ जाता है उसका प्रभाव अपने आप फैल जाता है। प्रकाश का स्रोत तो दूर रहता है पर उसकी किरणें बहुत दूर तक फैलती हैं। सूरज बहुत दूर जरूर है लेकिन उसका प्रकाश सारे भूमण्डल पर अपने आप फैलता है। उसे किसी प्रयास की ज़रूरत नहीं रहती है। बन्धुओ, हमारा व्यक्तित्व जब प्रभावी बनता है तो दूसरे उसके अनुयायी बनने

लगते हैं। यदि मेरे व्यक्तित्व में ताकत है तो मेरे पीछे लोग अपने आप चलेंगे। यदि कोई मेरे पीछे नहीं है तो मैं मानता हूँ कि मेरे अपने व्यक्तित्व में ही कमजोरी है। जिस व्यक्ति का चरित्र बल अच्छा होता है, उस व्यक्ति का व्यक्तित्व ऊँचा होता है। सारा संसार उसका अनुगामी होता है।

मिट्टी नहीं कलश की पूजा

ध्यान रखना, व्यक्ति अलग होता है और व्यक्तित्व अलग होता है। हर व्यक्ति जो संसार में देह धारण करता है वह व्यक्ति होता है। जैसे-जैसे उसके अन्दर के गुण या अवगुण प्रकट होते हैं, वह उसका व्यक्तित्व होता है। **व्यक्ति का जन्म होता है, व्यक्तित्व का निर्माण होता है।** जब व्यक्ति में मनोचित्त का समागम होता है। तब उसके भीतर से व्यक्तित्व उभरता है। पूजा व्यक्ति की नहीं, व्यक्तित्व की होती है। व्यक्तित्व को जो प्रभावी मान लेते हैं वे प्रभावना अंग के अधिकारी होते हैं। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति नहीं व्यक्तित्व होता है। व्यक्ति अगर मिट्टी का लोंदा है तो व्यक्तित्व उससे बनने वाला मंगल कलश है। मिट्टी के लोंदे का कोई मूल्य नहीं है, लेकिन मंगलकलश मूल्यवान् होता है। जगत् में उसकी पूजा और प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अपने अकिंचन जीवन को महान् बनाना ही हमारे जीवन की मूल साधना है। जिस व्यक्ति के भीतर महानता की प्रतिष्ठा हो जाती है वह व्यक्ति-व्यक्ति नहीं रह करके व्यक्तित्व बन जाता है। व्यक्ति बहुत साधारण सी चीज़ है। व्यक्तित्व असाधारण गुण है जो हर व्यक्ति के भीतर प्रकट नहीं होता है। पर जो सम्यक्त्व की राह पर चलता है, उसके भीतर अपने आप प्रकट हो जाता है।

व्यक्तित्व निर्माण के सात सोपान

बन्धुओ, जिस प्रभावना अंग की चर्चा आप सबके बीच की जा रही है, वह प्रभावना अंग अलग से कोई अंग नहीं है। मैं मानता हूँ कि पिछले सात अंगों की फलश्रुति ही प्रभावना है, जिसकी चर्चा आप सबके बीच की गई है। लगातार जिन सात अंगों की चर्चा की गई थी उन सात अंगों के एक साथ फलीभूत हो जाने का नाम प्रभावना है। जिस मनुष्य के मन में कोई शंका नहीं हो, किसी भी प्रकार का

संदेह नहीं हो, संसार के सुखों के प्रति अनास्था का भाव हो, जिस व्यक्ति के मन में कभी किसी के प्रति घृणा, विद्वेष और नफ़रत की भावना न हो, जिस व्यक्ति के मन में किसी भी प्रकार की मूढ़ता न हो, जिसकी आस्था एकदम अविचल हो, वह किसी भय, दबाव और प्रलोभन के आगे अपने उसूलों से समझौता न करता हो। जो व्यक्ति दूसरों के दोषों को ढँक करके चलता हो, दूसरों के गुणों को प्रोत्साहित करता हो, जो व्यक्ति हमेशा गिरने वालों को सहारा देने के लिये तत्पर रहता है, जिस व्यक्ति का हृदय आसमान की तरह विशाल हो और जो सबको अपनी छाती से लगाने के लिए आतुर हो, ऐसे व्यक्ति से कौन प्रभावित नहीं होगा ? वह जहाँ खड़ा होगा दुनिया उसके पीछे पागल हो उठेगी। हर व्यक्ति उसका प्रशंसक बनेगा। हर व्यक्ति उसका अनुयायी बन करके उसके पीछे चलने के लिये लालायित होगा है।

छिद्र रहित व्यक्तित्व का नाम है, प्रभावना

बन्धुओ, जहाँ सुगन्ध होती है, वहाँ भँवरे अपने आप मँडराने लगते हैं। दुर्भाग्य है, उन गन्धहीन फूलों का जो सुगन्धित फूलों पर उडते हुये भँवरों को देखकर मन ही मन मलिनता को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें अपने मन में मलिनता लाने की जगह थोड़ी देर के लिये उन फूलों की संगति कर लेनी चाहिये। गन्धहीन फूल कुछ समय के लिये सुगन्धित पुष्प का सानिध्य प्राप्त कर लेते हैं तो उनके भीतरी नहीं, बाहरी सुगन्धि तो हो ही जायेगी। अपने व्यक्तित्व को मजबूत बनाने का नाम ही प्रभावना है और यह प्रभावना बातों से नहीं होती है, आचरण से होती है।

चरण नहीं, आचरण की पूजा

भारत में चरित्र की पूजा होती है। जिस मनुष्य का चरित्र जितना उज्ज्वल होता है उस व्यक्ति को उतनी अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। बन्धुओ, इस भारत में बड़े-बड़े राजा-महाराजा, चक्रवर्ती हुये, सेठ-साहूकार हुये। वे आये और चले गये। उनकी कोई पूजा नहीं करता है। इस देश में अगर पूजा हुई तो उनकी पूजा हुई है, जिन्होंने समस्त राजपाट को त्यागकर अकिंचनत्व को धारण किया है। तप, त्याग और साधना के मार्ग को अंगीकार किया है। जिनने अपने निर्मल चरित्र के बल पर

आत्मा की निर्मलता को प्रकट किया है। वे ही पूजा और सम्मान के पात्र बने हैं। ऐसी पूजा, सम्मान हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता है।

खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से

इसलिये प्रभावना अंग की बात करते हुये सन्त कहते हैं - अगर तुम इसे प्राप्त करना चाहते हो तो अपने व्यक्तित्व को गहरा बनाओ। ध्यान रखना, उथले पानी में कभी नाव नहीं चल सकती है। नाव तो वहीं चलती है जहाँ गहरा पानी होता है। उथला व्यक्तित्व होगा तो तुम जिनशासन की नैया को पार नहीं लगा सकते हो। तुम्हारे व्यक्तित्व में गहराई होगी तो तुम्हें पार होने से कोई रोक नहीं सकता है। पार लगना चाहते हो और दूसरों को पार लगाना चाहते हो, तो व्यक्तित्व को गहरा बनाओ। दूसरों को उजाला वही दे सकता है, जो खुद उजाले में जीता है। अंधेरे में रहने वाले लोग कभी उजाला पा नहीं सकते हैं। लेकिन क्या करें ? आज दुनिया में ऐसा हो रहा है कि

रोशनी की मशालें वे हथियाये हुये हैं।
अन्धेरे, जिनके चारों ओर छाये हुये हैं॥

जो खुद चारों ओर अंधेरे में जी रहा हो, वह उजाले की बात कर रहा है।

सम्यक्त्व का उजाला छिपता नहीं है

संत कहते हैं कि केवल उजाले की बात करने से तुम कुछ नया निर्माण नहीं कर सकते हो। यदि तुम कुछ करना चाहते हो तो खुद के भीतर ज्योति को प्रकट करने की कोशिश करो। जिस पल तुम्हारे भीतर ज्योति प्रकट होगी, उसकी किरणें विकीर्ण होंगी तो उसकी आभा में अपने आप सब काम हो जायेगा। उस आभा को अपने भीतर प्रकट करने की कोशिश करो। हर व्यक्ति अपने अन्दर का विश्लेषण करके देखे कि जिस सम्यक्त्व की बात मैं कर रहा हूँ, जिस सम्यक्त्व के दीप के जलने की चर्चा यहाँ की जा रही है वह दीप जला भी है या नहीं ? उस प्रकार की किरण भीतर है या नहीं, इसके लिये शपथ लेकर जाने की ज़रूरत नहीं। कहीं

सॅवारने की ज़रूरत नहीं। अरे, दीपक की आभा खुद बता देगी कि जली है या नहीं। यदि उसकी आभा प्रकट हो रही है, उसकी ज्योति फैल रही है तो तय मानना कि वह तुम्हारे भीतर जल चुकी है। तुम्हारे आचरण में यदि कोई सुगन्ध है तो मान करके चलना मेरे भीतर वह प्रकाश अब प्रकट हो गया है और यदि अभी नहीं है तो अभी तुम बहुत पीछे हो, तुम्हें बहुत आगे बढ़ने की ज़रूरत है।

भला किसी का कर न सको, तो बुरा किसी का मत करना

बन्धुओ, धर्म की प्रभावना करने का भाव हर कोई रखता है। एक बार आचार्य महाराज ने यह संस्मरण सुनाया था। ज्ञानसागर जी महाराज से उन्होंने आखिरी क्षणों में संदेश पूछा तो ज्ञानसागर जी महाराज ने बहुत अच्छा सूत्र दिया - **अप्रभावना नहीं होना ही श्रेष्ठ प्रभावना है।** हमारे द्वारा कोई अप्रभावना न हो, हमारे द्वारा जिनशासन की अवज्ञा न हो, हमारे द्वारा कोई ऐसा कृत्य न हो जिससे लोग जिनशासन की परम्परा पर उँगली उठायें यही बहुत बड़ी प्रभावना है। तुम ज़्यादा कुछ न कर सको इतना ही कर लो तो तुम्हारा जीवन निहाल हो जायेगा। अपने आचरण की विशुद्धि को बढ़ाना बहुत बड़ी ज़रूरत है। इसी बात को रेखांकित करते हुये आचार्य अमृतचन्द्र जी अपने पुरुषार्थसिद्धचुपाय में कहते हैं -

आत्मप्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

अगर तुम प्रभावना के सच्चे अधिकारी बनना चाहते हो तो अपने रत्नत्रय के परम तेज से अपनी आत्मा को प्रभावी बनाओ। यह अन्तरंग प्रभावना है। अपने त्याग और संयम के बल पर अपनी आत्मा को तेजस्वी बनाओ।

जिस व्यक्ति का तप, त्याग और संयम जितना ऊँचा होता है, उसकी आत्मा में उतना ही अधिक तेजस् बढ़ता है। उसे सर्वव्यापी बनाने का प्रयत्न करो। अपने द्वारा अर्जित धन का सदुपयोग करो, दान करो, बड़े-बड़े तप-अनुष्ठान करो और बड़ी-बड़ी जिनपूजा का अनुष्ठान करके जिनधर्म के महत्त्व को फहराओ जिससे सब लोगों को मालूम पड़ सके कि यह जैनधर्म है। यह जिनशासन है। यह अहिंसा

धर्म है, यही इसका महत्त्व है और उसको अपनाकर के लोग अपने जीवन को निहाल कर सकें। यह ही श्रेष्ठ मार्ग है। यह सब तब ही हो सकता है जब हमारे भीतर कोई दम हो।

मन में होवे धर्म का डेरा

हम बाहरी प्रभावना के विषय में तो बहुत कुछ सोच लेते हैं अपनी भीतरी प्रभावना की तरफ भी हमारा ध्यान रहना चाहिये। बाहरी प्रभावना हमारी प्रभावना के लिये आधार है, उससे बहुत कुछ विस्तार होता है। लेकिन यह बात ध्यान रखना कि हम सबको उजाला बॉट रहे हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि हम खुद अंधेरे में जी रहे हों। अपने गिरेबान में झाँककर देखिये। सर्वत्र हम धर्म के महत्त्व की बात कर रहे हैं। खुद के भीतर वह धर्म प्रकट हुआ कि नहीं ? यह भी हम देखें। हमारा मकसद क्या है ? हमारा ध्येय क्या है ? हमारी दिशा क्या है ? और हमारी दृष्टि क्या है ? जब तक इन बातों के ऊपर विचार नहीं करते तब तक हमारे जीवन में उद्धार की कोई सम्भावनायें नहीं बनती हैं। इन बातों पर विचार करें, और जीवन को भीतर से सुधारने का प्रयत्न करें, यह तुम्हारा पहला लक्ष्य होना चाहिये।

पहले रौशन घर हो अपना, फिर मन्दिर में दिया जलाना

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं -

आदहिदं कादव्वं जं सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

आत्मा का हित कर लेना, जितना बन सके तो दूसरों का भी हित कर लेना। लेकिन जब कभी भी चुनाव का मौका आये, स्वहित और परहित के बीच में, तो पहले अपना अच्छा कर लेना चाहिये। **जो अपना हित नहीं कर सकता है, वह दूसरों का हित नहीं कर सकता है।** जो अपनी प्यास नहीं बुझा सकता है, वह दूसरों की प्यास को बुझाने में समर्थ कैसे होगा ? इसलिये **अपना हित करो और अपना हित संयम की आराधना में है। अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति आगे बढ़ने वाले व्यक्ति इसी बात को पहले देखते हैं।**

आचार्य श्री का प्रेरक संदेश

मैंने जब आचार्य महाराज से कहा - महाराज जी, हमें कोई संदेश दो, पहली बार बाहर प्रभावना के लिये आपकी आज्ञा से जाना हो रहा है। उन्होंने हमें एक ही गाथा सुनाई और कहा - ध्यान रखना, प्रभावना करना पर अपने आत्महित को भूल मत जाना। ***जो अपने केन्द्र को पकड़े रहता है वह संसार में कभी भटकता नहीं है और जो केन्द्र को छोड़ देता है वह कभी सही सलामत बच नहीं सकता है।*** *इसलिये अपने जीवन के मूल लक्ष्य को सामने रख करके चलने वाला व्यक्ति सदा आगे बढ़ता जाता है। लक्ष्य को विस्मृत करने वाले व्यक्ति के सामने कदम-कदम पर संकट खड़ा रहता है। उससे अपने आपको बचाने की कोशिश करना हम सबका पहला कर्त्तव्य होता है। इसीलिये सन्त कहते हैं - आचरण को निर्मल बनाने की कोशिश करो। आचरण में जितनी पवित्रता होगी हमारे जीवन में उतनी अधिक महानता विकसित होगी और हमारा आचरण जितना विकृत होगा, जीवन उतना ही बर्बाद होता जायेगा।*

आपका जीवन उन्नत बने, आपका भी कल्याण हो, आप भी सन्मार्ग का आचरण कर शाश्वत सुख को प्राप्त हो सको, इसी के भावना के साथ हम अपनी वाणी को विराम देते हैं।

गया १९-०३-०७

113